

प्रवचन-प्रसून

दण्डी स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज



प्रकाशक

स्वामी सदानन्द सरस्वती

श्रीशारदापीठ, द्वारका-361335

जामनगर, गुजरात

दूरभाष : 02892-235109

प्रवचन-प्रसून

दण्डी स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज
(सन् १९६८ ई.)

प्रथमावृत्ति ३००० प्रति

गुरुपूर्णिमा सं. २०६३

मूल्य - ५०/-

प्रकाशक

स्वामी सदानन्द सरस्वती

श्रीशारदापीठ, द्वारका-361335

जामनगर, गुजरात

दूरभाष : 02892-235109

मुद्रक

अम्बिका आफसेट्

मीठापुर, जामनगर, गुजरात

दो शब्द

भवाम्बोधे: परं पारं येन यात्यखिलं जगत् ।

सत्यपि श्रीगुरोरेव वन्दे तच्चरणद्वयम् ॥

जिसका आश्रय लेकर समस्त जगत् भवसागर के उस पार चला जाता है भगवान् के उस चरणद्वय के रहते हुए भी मैं श्रीगुरु के ही चरणद्वय की वन्दना करता हूँ ।

इस ग्रन्थ में पूज्यपाद अनन्तश्री विभूषित योगिराज स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज के द्वारा 1967 में नवरात्रि के पावन अवसर पर चाईबासा (झारखण्ड) में दिये गये प्रवचनों का संकलन है । संकलन कर्त्री बहन उमा ने पूज्यपाद के शब्दों में ही उनके भावों को रखने का यथाशक्ति प्रयास किया है । जिससे स्वाभाविकता विद्यमान है ।

इसका नाम 'प्रवचन प्रसून' बड़ा सुन्दर लगा । देवगण जब किसी शुभ-कार्य पर प्रसन्न होते हैं तब कर्ता पर पुष्प वृष्टि करते हैं । ऐसे ही जब कोई परम सुन्दर अपने श्रीमुख से मन्दस्मिति पूर्वक कुछ बोल देता है तो लगता है मानो मुख से फूल झड़ रहे हों । इसे देखकर लगा मानो पूज्य स्वामी जी श्रोताओं की सद्वृत्ति पर — हरि कथा रूप शुभ-शब्द-श्रवण-हेतु प्रयास पर प्रसन्न होकर फूल बरसा रहे हों । दूसरी बात भी सत्य है । यदि परम सुन्दर शोभातिशायी श्री स्वामी जी के श्रीमुख से निःसृत आह्लाद सौरभ संयुक्त वचनों को सुमन नहीं कहा जाता तो और किस सुन्दर के मुख से निकले शब्दों को कहा जायेगा, यह समस्या रहेगी । जहाँ तक श्री चरण के विषय में कहना है, यही कहा जा सकता है ।

“न तत्र वाग् गच्छति, न मनो गच्छति, न विद्मो, न विजानीमः”

अर्थात् “वहाँ तक वाणी पहुँचती ही नहीं, मन जा ही नहीं पाता नहीं जानते हम, हमें कोई ज्ञान नहीं है” और यदि कोई कह ले जाता है और जान पाता है तो निश्चय ही —

आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धा ।

आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

क्योंकि देखने वाला देखते ही रह जाता है रूपच्छटा को और नेत्र इस दर्शन जन्य आनन्द का विभाग वाणी तक नहीं करना चाहती हैं पर देखें कैसे ? “या पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति” अर्थात् गिरा अनयन नयन बिनु बानी । बातें वस्तुतः आश्चर्यमयी है । एक ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी भक्त को सर्वदा हंसते हुये देखकर, निर्गुण निराकार को परमलक्ष्य मानकर भी पंचायतन की पूजा करते देखकर, चतुर्थाश्रमी होते हुये भी भक्तों के परिवार को अभिन्न सदस्य सा देखकर अविचल वैरागी होने पर भी और शरीर की नश्वरता का प्रतिपादक होते हुये भी शरीर रक्षा के साधन तथा योगाभ्यासों में रत पाकर, योगीश्वर होने के कारण उसको भी जानने वाला होकर, जिसको जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है, पूज्य आचार्यों के साथ बैठे विनम्र-भाव से ग्रन्थों पर माथापच्ची करते देखकर किसको आश्चर्य नहीं होगा ? ज्ञानी लोग कहते हैं कि सच्चे परमहंस ब्रह्मनिष्ठ योगी की यही स्थिति होती है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इनको ही पाकर नाम सार्थक हुआ क्योंकि वह स्वयं सगुण तथा निर्गुण का समन्वय करते हैं । और इनका नाम भी अपने रूप स्वरूप से आनन्द प्रदान कर सगुणता की तथा स्व-अपने-आत्मा के रूप में हैं आनन्द से जो, इस निराकारता की एक ही स्वरूपानन्द की स्थापना करता है ।

इन पूज्य महात्मा जी के उपदेशामृत यहाँ संकलित हैं। “पत्र प्रबोध” जो इनके द्वारा जिज्ञासु साधकों को लिखे गये पत्रों के उत्कृष्ट अंशों का संग्रह है, इनके विचार जिज्ञासुओं के लिए प्रश्नानुसार व्यक्त हुए हैं, किन्तु इस संकलन में तो प्रायः उन समस्त धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों का साहित्यिक ढंग से विश्लेषण है जो या तो भक्तों को शंका में डाल देते थे अथवा अग्रसर होने के लिये साधकों को आवश्यक होते हुये भी ज्ञात नहीं थे । शास्त्रप्रवण विचारों को रखने तथा समझाने का ढंग नितान्त मौलिक है । नौ प्रसूनों—अध्यायों में संकलित इस प्रबन्ध को देखने से ऐसा लगता है मानो नव चक्रों का रहस्योद्भेदन करा कर देवताओं की नवद्वारा देव रूपी अयोध्या का राज्य दिया जा रहा हो । वेदों में कहा गया है —“**अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या**” देहस्थ नव कमल चक्र विकसित हों अथवा न हों किन्तु इन प्रवचनों को पढ़ने से ऐसा अवश्य विश्वास होने लग जाता है कि जो खोज रहा था वह मिल गया । अहा, कितना सरल मार्ग है ! वस्तुतः कठिन से भी कठिन कार्य के प्रति सरलता का भाव भर देना बहुत ही कठिन कार्य है । पूज्य स्वामी जी का दर्शन करने पर भी यही लगता है और साक्षात् शब्द सुनने पर भी यही भाव जाग्रत होता है ।

भक्त साधकों को कभी कभी साहित्यिकों से टक्कर लेनी पड़ती है, वह भी भक्तिपरक ग्रन्थों के रस विमर्श को लेकर । अनुभव, लोक तथा शास्त्रों के आधार पर उसकी सप्रमाण विवेचना अत्यन्त मर्मस्पर्शी है । भक्तिरस की स्थापना भक्तराज रूपगोस्वामी प्रभृति शास्त्रज्ञों के अनुसार करते हुये भी जो रसों की एकता और मूलरसता के विवाद का परिहार समन्वयात्मक ढंग से किया गया है, वह विलक्षण ही है । स्वामी जी की उदार दृष्टि का भी परिचय यहाँ मिलता है । ये अद्वैत वेदान्त परम्परा में दीक्षित होने के कारण सिद्धान्त रूप में, अपने से सम्बद्ध विषयों की

व्याख्या करते हैं । एक निष्ठा है, सत्याग्रह है, किन्तु दुराग्रह नहीं । यही कारण है कि वे श्रीमद्भागवत पर चर्चा करते समय महात्मा बल्लभाचार्य एवं रामायण पर गोस्वामी जी, आदि की प्रशंसा करते अघाते नहीं । यही है इष्टनिष्ठा के साथ दूसरे मतों के प्रति सम्मान का भाव । सामान्यतः शैव, शाक्त, वैष्णव आदि एक देव पर दुराग्रह रखने के कारण परस्पर झगड़ते हैं । किन्तु स्वामी जी सभी मतों, सभी दर्शनों में एकात्मकता स्थापित करते हैं । सभी धर्मों और धार्मिक सम्प्रदायों को एक लक्ष्य हेतु कई स्थानों से प्रारम्भ हुआ मार्ग कहा है । यही कारण है कि भगवान् शिव तथा भगवती के ही उपासक नहीं किन्तु भारत वर्ष की प्रत्येक दिशा से आकर विभिन्न सम्प्रदायों के लोग श्रीस्वामी जी के शिष्य बनकर अपने को धन्य कर रहे हैं । आस्तिक सनातन धर्म की शाखाओं के लोगों के अतिरिक्त नास्तिक दर्शन के मानने वाले जैन, बौद्ध, धर्म के लोग भी श्रीचरणों में बैठकर शांति लाभ कर रहे हैं । एक छत के भीतर लड़ते हुए सम्प्रदायों को बैठाना 'अहि मयूर, मृग, बाघ' को एकत्र कर वैर भाव त्याग कर बैठाने के सदृश है । यह बैठाव किसी योगेश्वर महात्मा के ही सन्निधि में सम्भव है और सब पर समान स्नेह वही रख सकता है जो विश्वधर्मों के रहस्यों का द्रष्टा है ।

आज का विश्व जो भौतिकता की ओर दौड़ रहा है, धार्मिकता से विमुख होने पर भी सच्चे धर्मनिष्ठों को समान करना चाहता है । अतः साधु महात्माओं को अपने आचरण में ज्ञान को उतार कर ज्ञान को आचरण में ढाल कर लोक के समक्ष आदर्श उपस्थित करना चाहिये दुःख का विषय यही है कि धर्म का ढोंग रचकर जीविका कमाने वाले लोग बढ़ते जा रहे हैं और लोगों की श्रद्धा, मिथ्याचारियों के कारण, बढ़ने के स्थान पर घटती जा रही है । स्वामी जी के विचार ऐसे लोगों के प्रतिकूल हैं । ये भाव इन प्रवचनों पर यत्र तत्र दृष्टिगोचर हो जाते हैं । प्रवचनों पर

अनेक स्थानों पर की गई व्याख्याएं नितान्त मौलिक और आह्लादकारिणी हैं । उनको देखते ही लोग कहते हैं, अरे! इसका यह अर्थ है, वाह! वैयाकरण लोग जानते हैं कि उत्तम पुरुष के अन्तर्गत मैं (अहम्) से सम्बद्ध रूप चलते हैं । किन्तु पुरुषोत्तम की उत्तम पुरुष रूप में व्याख्या नितान्त नवीन है । जयन्त तथा विभीषण के प्रसंग में आई घटनाओं का सामंजस्य उक्ति वैचित्र्य द्वारा साहित्यिक रसात्मक ढंग से स्थापित किया गया है । पाठकगण पढ़कर ही आनन्द लें । शुभ अवसरों पर स्वतः घटित होने वाले शुभ शकुनों से सम्बद्ध उक्तियाँ भी आनन्द देती हैं ।

जिस प्रकार से आचरण और धर्म सम्बन्धी उसी प्रकार दार्शनिक ग्रन्थियाँ भी मनोरथ ढंग से सुलझाई गई हैं । इस दिशा में तो नव प्रसून नितान्त महत्व का है । नाम और नामी का अभेद कैसे है ? नाम का अर्थ क्या है, जगत् ब्रह्म कैसे है ? शब्द को ब्रह्म कैसे कहा जा सकता है ? सम्पूर्ण प्रपंच में ब्रह्मदर्शन तथा सभी वाक्यों का एक अखण्डार्थ कैसे समझा जा सकता है ? भ्रान्ति का अर्थ क्या है ? आदि का जितना स्पष्ट और तात्त्विक विवेचन हुआ है, वह नितान्त प्रशंसनीय है । पढ़ने से लगता है कि अब तो संसार सागर से पार होने की नौका मिल गई है, प्रतीत होता है कि इतना सरल मार्ग तो आज तक किसी ने बतलाया नहीं था, अरे ! इसका समाधान अत्यन्त सरलता से हो गया । वस्तुतः दार्शनिक ग्रन्थियाँ साधना की गुत्थियाँ हैं जो सिवा सिद्धों के अन्यो से नहीं खुल सकतीं । जो तत्त्वनिष्ठ महात्मा हैं उनके सामने गुत्थी-गुत्थी नहीं रहती । सौभाग्य से विविध ग्रन्थियों का विमोचन सर्वत्र हुआ ही है जिससे विभिन्न स्तर तथा रुचि के साधकों का कल्याण होगा ही ।

कठिन से कठिन विषयों की लघु-बोधकथाओं के माध्यम से सरल से सरल व्याख्या अत्यन्त उपादेय है । लब्ध और अलब्ध लाभों की व्याख्या,

बिम्ब प्रतिबिम्ब और अवच्छेदकतावाद की व्याख्याएं सीधे हृदय में समाविष्ट हो जाती हैं । सौन्दर्य तथा अवतार सम्बन्धी चर्चाएँ न केवल दार्शनिक अपितु लौकिक जीवन के क्षेत्र में भी विभिन्न, पूर्व तथा पश्चिम देशों के विचारकों के समक्ष आती हैं । योगियों द्वारा बिना उपादानों के ही ऐच्छिक उत्पत्ति सम्बन्धी सम्भावनाओं की व्याख्याएं कौतूहल के विषय हैं । प्रसन्नता होती है इनकी आह्लादक व्याख्याओं को पढ़कर ।

पूज्य परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्य श्रीस्वामी जी के प्रवचनों का संग्रह कर उसे हमारे समक्ष प्रस्तुत करने का कष्ट उठाने वाली बहन उमा तथा चाईबासा के भक्त जन धन्यवाद तथा प्रशंसा के पात्र हैं । अन्ततः पूज्य योगीराज के चरणों में, जो अपने नाम, रूप, लीला और धाम सबसे भक्तों का कल्याण करते हैं, अनन्त प्रणति—पुरस्सर यही कह सकता हूँ कि उनका क्या नही मधुर है ? श्री बल्लभाचार्य जी के शब्दों में —

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरं ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरं ॥

डा. कामेश्वर नाथ मिश्र
वाराणसी
सन् 1968 ई.

प्रकाशकीय

‘प्रवचन-प्रसून’ नामक प्रकृत संग्रह के पुनर्प्रकाशन के समय आज हमें परम तोष, गौरव, पुण्य और आनन्द का अनुभव हो रहा है । क्योंकि इन प्रवचनों की पीयूष-धारा आज से बहुत वर्षों पूर्व झारखंड के वनवासी क्षेत्र में स्थित नवरात्रि के समय विश्वकल्याणाश्रम के चाईवांसा क्षेत्र में प्रवाहित हुई थी । जिसका प्रकाशन संस्कृत साहित्य के ख्यातनाम मनीषी प्रो. कामेश्वरनाथ मिश्र की पाण्डित्यपूर्ण भूमिका के साथ सन् १९६८ में हुआ था । ध्यातव्य है कि प्रकाशित प्रवचन प्रतियों की सीमित संख्या और भक्तों की बलवती पिपठीषा के कारण आज ‘प्रवचन-प्रसून’ दुर्लभ हो गया । फलतः उसके पुनर्प्रकाशन की महती आवश्यकता को ध्यान में रखकर आज पाठकों के समक्ष यह प्रकाशित ग्रन्थ पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है ।

विगत ६-७ दशकों के अनवरत साधना व प्रवचन के परिणामस्वरूप पूज्यपाद के प्रवचन-प्रसूनों की शृंखला तो अनन्त है जिनके प्रकाशन की अपनी पृथक् योजना बनायी जा चुकी है । फिर भी प्रकृत प्रसंग में सुधीजन को यह सूचित करना उचित समझता हूँ कि इस ‘प्रवचन-प्रसून’ के प्रथम नौ प्रसून परम पूज्य गुरुजी महाराज के शङ्कराचार्य पद पर अभिषिक्त होने के पूर्व के हैं । अर्थात् पूज्य गुरुदेव उस समय दण्डीस्वामी थे, शङ्कराचार्य पद पर अभी आपका अभिषेक नहीं हुआ था । तथा परिशिष्ट के प्रसून जगद्गुरुजी महाराज के शङ्कराचार्य पद पर अभिषिक्त होने के बाद के हैं । जिन्हें कुल ९ मुख्य शीर्षकों में विभक्त किया गया है, यथा -

१. श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक की दार्शनिक व्याख्या, २. परमार्थ-
पथ, ३. आत्मा से ही आत्मा का उद्धार, ४. निर्मल मन जन सो मोहिं पावा, ५.
आत्मकृपा सर्वोपरि, ६. स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखें, ७. ब्रह्मसाक्षात्कार से
कृतकृत्यता ।

कहना न होगा कि नौ भागों में विभक्त परिशिष्ट के ये प्रवचन मेरी अपनी
पसन्द के हैं, जिनके प्रकाशन का लोभ मैं छोड़ नहीं पा रहा हूँ ।

आशा है, पाठकजन इन प्रवचनों से कृतार्थ होंगे ।

प्रकाशक

स्वामी सदानन्द सरस्वती

शारदापीठ, द्वारका

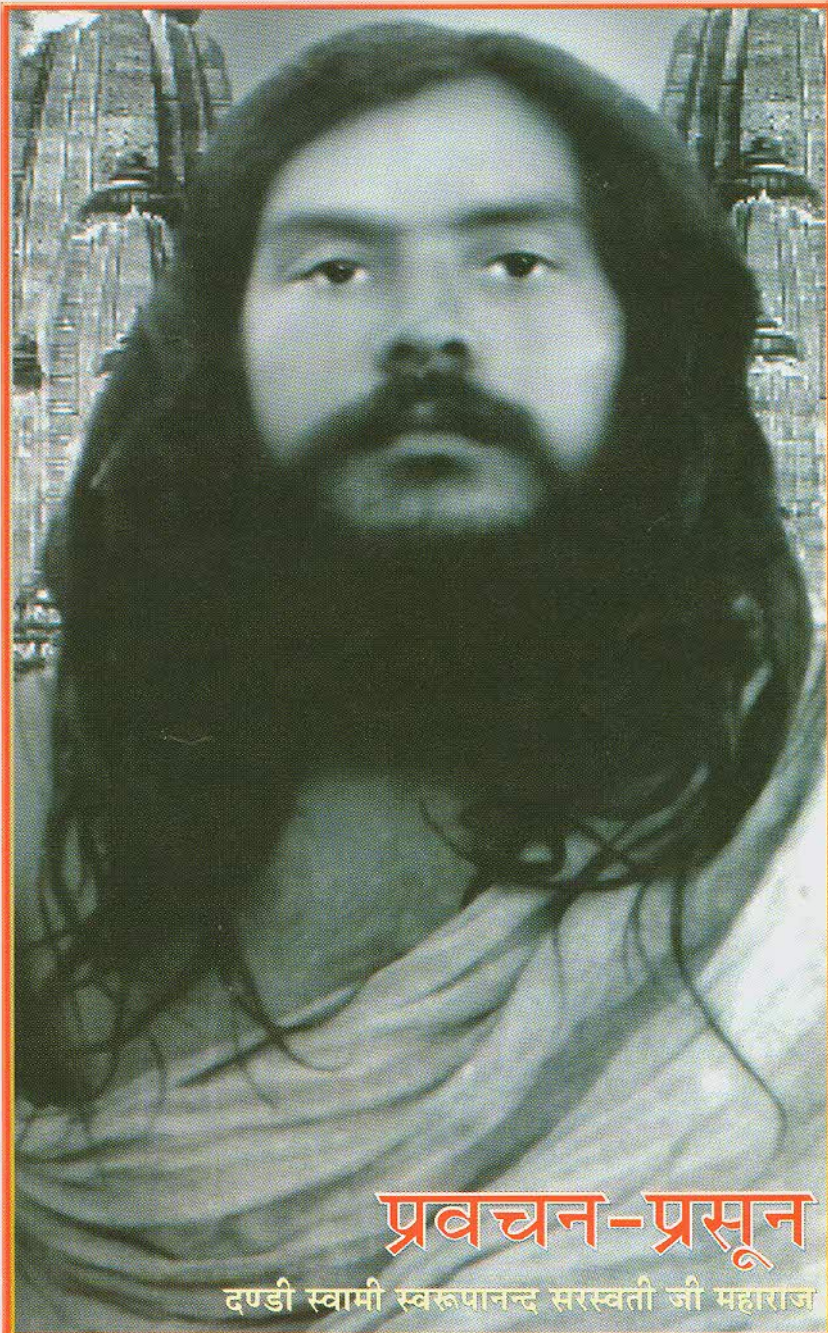
विषय-सूची

प्रथम-प्रसून	१
द्वितीय-प्रसून	८
तृतीय-प्रसून	१५
चतुर्थ-प्रसून	२४
पञ्चम-प्रसून	३३
षष्ठ-प्रसून	४२
सप्तम-प्रसून	४८
अष्टम-प्रसून	५९
नवम-प्रसून	६५

परिशिष्ट

श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक का

दार्शनिक-प्रवचन	७९
परमार्थ पथ	१०४
आत्मा से ही आत्मा का उद्धार	१०७
निर्मल मन जन सो मोहि पावा	११०
आत्मकृपा सर्वोपरि	११५
स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखें	११८
ब्रह्म साक्षात्कार से कृतकृत्यता	१२१
शान्ति, सौख्य की जननी है	१२५
भगवत्प्राप्ति के लिए अन्तःकरण की शुद्धि अनिवार्य	१२८



प्रवचन-प्रसून

दण्डी स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज

प्रथम प्रसून

गोस्वामी तुलसीदास जी ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में रामचरित मानस को एक ऐसा अद्भुत मानसरोवर बतलाया है जिसमें भगवान राम के परम पावन चरित्र का ही जल है । नवरस जप, तप, योग, विराग इसके जलचर हैं । छन्द सोरठा और सुन्दर दोहे बहुरंग कमल कुल है । सधन चारु चौपाइयाँ पुरइन हैं । काव्य के गुण ध्वनि अवरोह आदि इसमें निवास करने वाले मनोहर मीन हैं । कथा रसिक सभा ही सरोवर के आसपास सरोवर के जल से पोषित होने वाली आम्रवनी है । सन्तों के हृदय की उत्कट श्रद्धा जो उनमें निरन्तर रहती है वसन्त ऋतु है । रसिक सन्तों के शम, यम, नियम आदि साधन श्रद्धा रूपी बसन्त में होने वाली सुरभित मंजरी है । ज्ञान फल और हरिपदरति (भक्ति) रस है । इस दृष्टि में राम चरित मानस एक महाकाव्य है । इसलिये नही कि इसमें साहित्य शास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षण मिलते हैं, अपितु इसलिये कि इसमें महाकाव्य का प्राण विद्यमान है । वस्तुतः काव्य कहते किसे हैं ? काव्य वह है जो रसात्मक हो (मात्र आकार अथवा मूर्त अमूर्त लक्षण से ही अपेक्षित मात्रा में सर्ग या काण्ड, विविध दोहे चौपाई आदि छन्द, जीवन के विविध अंगों का विविध परिस्थितियों में वर्णन से ही महाकाव्यता सिद्ध नहीं होती है । रामचरित में सर्गात्मकता को छोड़कर शेष समस्त लक्षण तो विद्यमान हैं ही अपितु स्थान स्थान पर रस का अजस्र निस्पन्द भी अहर्निश प्रवाहित होता रहता है । सत्य तो यह है कि मानस एक ऐसा रसमहोदधि है, जिसमें विविध आनन्द की ऊर्मियाँ लहराया करती हैं । हों कैसे न ? इसमें अखण्डकोटि ब्रह्माण्ड नायक आनन्दकन्द राघवेन्द्र जी के जीवन के मनोरम क्षण, उनकी आह्लादिनी शक्ति भगवती सीता की नित्य लीलाओं का विलास जो वर्णित है । महाकाव्य में बहुत ही प्रचुर मात्रा में रस होता

है, अतएव अगणित जन मानस उसमें निमग्न हो सकते हैं, अनन्त सहृदय रस विभोर हो सकते हैं । रामायण में यह अगाधता है ।

साहित्यशास्त्रियों ने रस चर्चणा में रस — आनन्दानुभूति के अतिरिक्त अन्य विषयों की अनुभूति को अनपेक्षित माना है—‘विगलितवेद्यान्तर’ कहा है और गोस्वामी जी स्पष्ट कह रहे हैं ‘बरनउँ रामचरित भवमोचन’ अर्थात् इस वर्णित रामचरित की तो लीला ही विचित्र है, केवल पढ़ने के समय ही नहीं सर्वदा के लिये, वह भी एक दो वेद्यान्तरों अन्य पदार्थों का नहीं अपितु सम्पूर्ण भव का ही विमोचन हो जाता है । अहो ! धन्य है यह रस—महोदधि । भक्त गण इस महाकाव्य का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके निःसन्देह भव मुक्त हो जाते हैं ।

“हरिपदरति रस वेद बखाना”— के अनुसार रामचरित मानस का अंगीरस प्रधान रस भक्ति है । अन्य रस अंग भाव से उसकी श्री वृद्धि करते हैं । शृंगारादि—नवरस मानस के जलचर हैं । जिस प्रकार जलचर जल को छोड़कर नहीं रह सकते, उसी प्रकार नवरस भी रामचरित मानस को छोड़कर नहीं रह सकते । मम्मट आदि रसध्वनि वादी समीक्षा शास्त्री भक्ति को रस न मानकर, देवादि विषयक अर्थात् देवता विषयक रति को भाव की कोटि में रखते हैं । कुछ समीक्षकों का कहना है कि भक्तिरस भक्तों के क्षेत्र का है । साहित्य शास्त्र तथा साहित्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं । ऐसा स्वीकार करने पर तो प्रायः सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य तथा हिन्दी के स्वर्णिम काल— भक्ति का समूचा साहित्य ही साहित्य न रहकर मात्र पूजा पाठ का विषय रह जायेगा । यहाँ तक कि प्रसाद की कामायनी भी जो, मनु से सम्बद्ध है, अलग हो जायेगी । रहस्यवाद और छायावाद के नाम से विख्यात हिन्दी साहित्य जिसमें एक अदृष्ट सत्ता का आभास कराना लक्ष्य है, पूर्णतः पृथक् हो जायेगा, और इसे कोई भी समीक्षक या रसवादी मानने को तैयार नहीं होगा ।

भक्तशिरोमणि रूप गोस्वामी ने अपने दोनों ग्रन्थों— ‘उज्ज्वल नीलमणि तथा भक्ति रसामृत सिन्धु’ में भक्ति को स्वतंत्र रस माना है । उनके अपने विभाव, अनुभाव तथा संचारी हैं । भगवान् कृष्ण आलम्बन हैं, संत तथा

भक्तों की उपस्थिति उद्दीपन है। बाह्य उद्दीपनों में तीर्थ, नदी एकान्त आदि हैं। नाम-कीर्तन, गद्गद् होना, नृत्य, हंसी आदि अनुभाव तथा मति वितर्क आदि संचारी हैं। रूप गोस्वामीजी मम्मट के अनुसार कृष्ण को जो साक्षात् भगवान् हैं, छोड़कर सभी देवता विषयक रति को भाव मानते हैं। किन्तु कृष्ण कहने का अभिप्राय मात्र अवतार विशेष से नहीं होकर रामादि प्रमुख अवतारों से भी हैं।

वास्तविक बात तो यह है कि द्रवित अन्तःकरण की भगवान् के आकार में परिणति भगवदाकाराकारितवृत्ति में अभिव्यक्त परमानन्द स्वरूप भगवान् ही रसताको — रस की अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस रूप में भक्ति की भी रसरूपता सिद्ध होती है क्योंकि भगवदाकाराकारित वृत्ति ही भक्ति है। ब्रह्मलीन महात्मा मधुसूदन सरस्वती आदि का भी यही मत है।

अब साहित्य शास्त्रियों की भी दृष्टि से देखिये, सब स्वतः स्पष्ट हो जायेगा। ये लोग भी रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहते हैं। अर्थात् रस का आनन्द ब्रह्मानन्द जैसा ही होता है। सहोदर कहने का अर्थ अत्यन्त समान गुण, धर्म, आकृति अधिकार वाला केवल एक ही पेट से उत्पन्न होने वाला नहीं, यह सभी मानते हैं। यह सिद्ध और साधक जानते हैं तथा शास्त्रों में वर्णित है कि ब्रह्मा तो ब्रह्मा के समान है, वह अद्वितीय है और जो कुछ भी विश्व में विभासित हो रहा है, जो भी आनन्द की प्राप्ति या प्रतीति हो रही है, उस एक मात्र आनन्द निधान का आभास है, प्रतिबिम्ब है, स्वयं उसका पृथक् अस्तित्व नहीं। अब सोचिये की कौन सा काव्य रसमय तथा अत्यन्त विभोर करने वाला कहा जायेगा? जिसमें वह स्वयं स्वरूप में विद्यमान है वह अथवा जहाँ उसका आभास चित्रित है वह? स्पष्ट है प्रथम। अतः या तो साहित्य शास्त्री लोग रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहना छोड़ दें अथवा भक्ति को ही मूल रस और रसराज समझें।

एक तत्व की बात और है रसरसता या मूल रसता के बारे में। भोज प्रभृति विद्वान् शृंगार को, ध्वनिवादी आनन्द-वर्धन आदि शान्त को, नारायण पण्डित आश्चर्य को, महाकवि भवभूति करुण को और इसी प्रकार विभिन्न विभिन्न आलोचक विभिन्न रसों को अन्य रसों का मूल समझते हैं। यहाँ

बात झगड़े की नहीं, अवस्था की है। जो व्यक्ति जिस भाव में मग्न रहता है उसे तदनुकूल ही सारा विश्व दृष्टिगोचर होता है। शोकाकुल के लिये सारा लोक विकल, शृंगारी के लिये बिलासमय आदि उसीप्रकार दृष्टिगोचर होता है जिस प्रकार रंगीन चस्मा लगाये हुये व्यक्ति को सारा लोक रंगीन दिखाई देता है। वस्तुतः तो व्यक्ति का अन्तःकरण ही किसी श्रेष्ठता या हीनता को प्रतिपादित करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे भक्त के लिये प्रतिमा भगवान् है और नास्तिक के लिये मात्र प्रस्तर वही विषय मम्मट का भाव है और रूप गोस्वामी जी का भक्ति रस। अस्तु रामायण का अंगीरस भक्ति है। क्योंकि श्रुति भी यही कहती है। “रसौ वै सः” अर्थात् वह परमेश्वर तो रस ही है।

यह आनन्दमयी भक्ति एक नशा है। जिसे लग गया, लग गया। उससे छुटकारा पाना असम्भव है। फिर जीव को विश्व का सारा आनन्द फीका लगता है और वह निरन्तर उसी परमानन्दमय नशे में लीन रहता है। संसार के अन्य नशे घातक होते हैं, अधःपाती होते हैं और प्रारम्भ से अन्त तक समान रूप से सुखदायी नहीं होते, अस्थायी होते हैं। भक्ति का नशा स्थायी, परमकल्याणकारी तथा लोकोद्धारक होता है। अतः सौभाग्यशालियों को इसका सेवन अवश्य करना चाहिये अथवा यों कहिये की सौभाग्यशाली वही है, जिसे भक्ति का नशा (अमल) होता है। जिस प्रकार लौकिक नशे चार व्यक्तियों के साथ अधिक आनन्द देते हैं, उसी प्रकार अलौकिक भक्ति का नशा (अमल) भी चार (अमली) संतों के सत्संग से चढ़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्संग से भक्तिमय उन्मेष होता है। रोमांच, अश्रु प्रवाह, आनन्द विभोरता आदि भक्ति के लक्षण प्रकट होते हैं। श्री हनुमानजी इसके उदाहरण हैं—

यत्र यत्र रघुनाथ कीर्तनं तत्र तत्र कृतं मस्ताकांजलि ।

बाष्पवारि परिपूर्ण लोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥

इसके अनुसार जहाँ जहाँ श्री रघुनाथ जी का कीर्तन होता है, वहाँ वहाँ पहुँचकर मस्तक झुकाये बाष्पवारि पूर्ण लोचन होकर अपने अंगों को रोमांच कण्टकित किये मारुति राम कथा का सादर श्रवण करते हैं।

ज्ञानियों में अग्रगण्य और राम चरित्र के प्रणेता होते हुये भी भक्तों के मध्य आकर श्रवण करने में उनको विशेष रसानुभूति होती है । भक्ति का भी आधार श्रद्धा, अटल विश्वास और दृढ़ निष्ठा है । जिसके पास श्रद्धा का सम्बल नहीं वह भक्ति मार्ग पर नहीं चल सकता । मार्ग पर चलने में असमर्थ होने पर लक्ष्य की प्राप्ति भला कहाँ सम्भव है? भक्ति के महासिन्धु रामचरित का आस्वादन और अतल गाम्भीर्य का ज्ञान उसी को सम्भव हो सकता है जो कमर कस कर मार्ग पर श्रद्धा का अक्षय्य सम्बल लेकर चल पड़ा है ।

जो व्यक्ति प्रभु के चरितामृत का अधिक से अधिक श्रवण करता है, मनन और निदिध्यासन करता है, फलतः उसकी श्रद्धा और भक्ति निरन्तर बढ़ती जाती है । लोगों में अधिक से अधिक हरिहर कथा सुनने की प्रवृत्ति होनी चाहिये । महाराजा पृथु ने भगवान् से दश सहस्र कान मांगे थे, क्यों ? जिससे वे अधिक से अधिक महाप्रभु के कथामृत का श्रवणचषकों से अविराम पान करते हुये कृतकृत्य हो जाएं । दो कानों से ही उनको सन्तोष न हो सका । खल प्राणी दूसरों की प्रशंसा नहीं, निन्दा सहस्र कानों से सुना करते हैं । वस्तुतः कान तो दो ही होते हैं किन्तु उनके माध्यम से श्रवण इतना अधिक बार और इतनी अधिक मात्रा में किया जाता है कि वह हजार क्या दस हजार कानों से ग्रहण करने बराबर होता है । राजा पृथु के सहस्रकर्ण होने का यह प्रतीकात्मक अर्थ है ।

प्राणी को विश्व में अपना परम हितैषी प्रभु को ही समझना चाहिये, क्योंकि वही उसका सबसे बड़ा मित्र और हित चिन्तक है । तत्त्वतः तो जीव परमात्मा का अंश ही है । प्रभु इसको अपने से पृथक्-सा करके संसार में भेजता है, अथवा यों कहिये कि वह अपने को मूल रूप से भिन्न रूपों में प्रकाशित करता है । अपने से जीव के विमुख होने पर भी वह निरन्तर इसका हित चिन्तन करता है, क्योंकि वही परम हितैषी और रक्षक है । जीव ही प्रभु को भूल बैठता है और सांसारिक प्राणियों को अपना परम हितैषी समझ लेता है । वह अपने परम सखा के लिये इन्द्रिय द्वारों को बन्द करके अन्य-मनस्क अस्वस्थ और रूठा सा हृदय भवन में जा बैठता

है । किन्तु परम कारुणिक प्रभु अपने इस बालक सखा के वात्सल्य से प्रेरित होकर अन्य कोई मार्ग न मिलने पर मानो श्रोत्ररूपी गवाक्षों (खिड़कियों) से उसके हृदय भवन में कथा के रूप में प्रविष्ट होते हैं । इस प्रकार कथा श्रवण भगवान् का हृदय—मन्दिर में अवतरण ही है ।

जहाँ कहीं भी हरि चर्चा होती है प्रभु अवश्य विद्यमान रहते हैं । जिस प्रकार धान के जीवन को बचाने के लिए जल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जड़ तनधारी जीवों के लिए प्रभु कथामृत आवश्यक है । अर्थात् जीव रूपी धान के लिये कथा रूपी जल की आवश्यकता सिद्ध है । संस्कृत में जल को जीवन कहा जाता है, साथ ही वही 'डलयोरभेदः' ड तथा ल का साहित्य में अभेद माना गया है । इस प्रकार जड़ भी जल ही हुआ और जल तो जीवन है ही । अतः वह जड़ शरीर जिसका चेतन आत्मा से तत्त्वतः अभेद माना जाता है लोक द्वारा, प्रभु कथामृत से संयोग से धन्य हो जाता है, यह शरीर सामान्य शरीर नहीं रह जाता, कुछ और ही हो जाता है ।

हरिकथा का श्रवण अवसर साधु समाज में, सत्संग से अधिक मिलता है, किन्तु साधु या संन्यासी का अर्थ किसी वेष या आश्रम में सीमित नहीं । गृहस्थाश्रम में रहने वाला व्यक्ति भी सन्त है, साधु है यदि वह निरन्तर प्रभु की ओर उन्मुख हो । भगवान् शंकराचार्य ने 'परित्राणाय साधूनाम्' की व्याख्या करते हुये साधूनाम् का अर्थ सन्मार्गस्थानाम् किया है । अतः प्रभु भक्ति से सन्मार्ग में चलने वाला व्यक्ति सन्त है ।

प्रभु की शरण में जाने पर किसी भी पदार्थ की कमी नहीं रहती । वे सब कुछ पूरा करते हैं और मानव स्वतन्त्र हो जाता है । कहने को आज हम सब स्वतन्त्र हैं । सभी कहते हैं कि हमने परतन्त्रता की बेड़ियाँ काट दीं । किन्तु क्या यह सच है ? जब तक जीव इन्द्रियों के वश में है, वह स्वतन्त्र नहीं । वह बद्ध है, एक दो नहीं, दस दस इन्द्रियों से । जब एक से अधिक पत्नियाँ पति के लिये संकट बनी रहती हैं, फिर दस इन्द्रियों के होते मनुष्य सुखी कहाँ ? स्वतन्त्र कहाँ ? अतः अपने को इन्द्रियों से स्वतन्त्र करके प्रभु के परतन्त्र होना चाहिये । स्वयं स्वीकार की गई

परतन्त्रता श्रेयस्कर है, दुःखद नहीं । उसीप्रकार, जिसप्रकार कोई व्यक्ति स्वेच्छा से आपको एक कमरे में बन्द कर ले और बैठा रहे, तो उसे कष्ट नहीं होता अपनी परतन्त्रता का अनुभव नहीं होता । अतः जीव को ईश्वर की अधीनता स्वीकार करनी चाहिये । तात्त्विक दृष्टि से जीव ईश्वर से अभिन्न है । अपनी पृथक् सत्ता का त्याग करके इस अभेद का अनुभव किया जा सकता है । आत्मसमर्पण से यह सुस्पष्ट होता है । इसप्रकार यह परतन्त्रता जीव की स्वतन्त्रता ही है । साथ ही ईश्वर भी उपाधिमुक्त, अविद्यारहित शरणापन्न जीव को आत्मस्वरूप समझकर उसकी रक्षा में अपनी रक्षा समझेगा और उसकी इच्छापूर्ति और उसके सुख-दुःखों को अपना सुख-दुःख । इस परिस्थिति में भक्त और भगवान् का नाता ही परिवर्तित हो जाता है । भक्त भगवान् हो जाता है और भगवान् भक्त । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब भगवान् को भक्त आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह उनका हो जाता है । जो वस्तु जिसकी हो जाती है, उसमें उसकी अस्मिता अथवा ममत्व का निवास होता है और जहाँ पर जिसका ममत्व रहता है, वहाँ उसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष उपस्थिति होती है, साथ ही उस पदार्थ की रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व उसी पर होता है । उसकी अरक्षा में व्यक्ति की ही असमर्थता कही जायेगी, किन्तु प्रभु तो सर्वसमर्थ हैं । अतः सुरक्षा करेंगे ही भक्त को भरेंगे ही ।

द्वितीय प्रसून

प्रत्येक प्राणी किसी का वास्तविक स्नेह पाकर स्वयं को कृतकृत्य समझता है । किन्तु संसार में उसे सच्चा स्नेह नहीं मिलता । स्वास्थ्य और सम्पत्ति से रहित हो जाने पर जब चारों ओर से उपेक्षा मिलने लगती है तब उसके सामने से आवरण हटता है और उसे सर्वत्र निराशा ही दृष्टिगोचर होने लगती है ऐसे प्राणी की निराशा तब दूर होती है जब उसे प्रभु की भक्तवत्सलता का पता लगता है ।

पहले भक्त भगवान् के अधीन होता है और फिर भगवान् भक्त के । वह अपने भक्त की रक्षा उसीप्रकार करता है जिसप्रकार एक स्नेहमयी अपने छोटे अवोध बालक की । भगवान् जीव की माता की भाँति है और यह अनुभव सिद्ध बात है कि इस विश्व में व्यवहारिक जीवन में माता से बढ़कर स्नेहमय कोई भी नहीं है । जीव स्नेह चाहता है तथा प्रभु रूप माता ही स्नेहनिधि है मातृविहीन शिशु से बढ़कर और कोई दुःखी प्राणी नहीं । ऐसे शिशु को, जीव को जहाँ कहीं भी स्नेह मिलता है, उसी ओर ढुलक पड़ता है । उसीपर न्योछावर हो जाना चाहता है । यहाँ प्रभु को माता कहना असंगत नहीं है । यदि कोई कहे की प्रभु शब्द तो पुल्लिग है वह माता कैसे ? तो उत्तर यह है कि वस्तुतः ये शब्द उसका वर्णन करने में असमर्थ है, इनमें जो कुछ भी अर्थ व्यक्त करने की क्षमता है वह उसी की अभिव्यक्ति है परमार्थ दृष्टि से तो प्रभु न स्त्री है न पुरुष और न तृतीय लिंग ही किन्तु इन्हीं के अभ्यस्त लोग इनमें से ही किसी एक अथवा दूसरे रूप में उनको देखते हैं । दूसरी बात यह है कि सब की उत्पत्ति तो उन्हीं से है, सम्पूर्ण विश्व का उपादान कारण भी तो वही है, जिसप्रकार माता के शरीर का अधिकांश रक्त आदि मिलकर पिण्ड की रचना करता है । उसीप्रकार इस शरीर जीव का भी पूर्णतः निर्माण उसी प्रभु से है । भगवान्

आद्यशंकराचार्य ने अपरोक्षानुभूति ग्रन्थ में कहा है —

घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः ।

जगन्नाम्ना विदाभाति ज्ञेयं तत्तदभावतः ॥

अर्थात् जिस प्रकार घट नाम से पृथ्वी और पट नाम से तन्तु भासते हैं, उसीप्रकार जगत् नाम से चित् शक्ति भास रही है उस जगत् का बाध करके उसे जानना चाहिये ।

यथैव मृण्मयः कुम्भस्तद्वददेहोऽपि चिन्मयः ।

आत्मानात्मविभागोऽयं मुधैव कियतेऽबुधैः ॥

जिस प्रकार घड़ा मिट्टी रूप होता है उसी प्रकार देह भी चेतन रूप है । अज्ञानी जन व्यर्थ ही आत्मा तथा अनात्मा का विभाग करते हैं । सोचने की बात है कि जब श्रुतियाँ कहती हैं कि—‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ यह सब कुछ निश्चित ही ब्रह्म है, फिर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर माता कैसे नहीं ? यह प्रभु रूपी माता लौकिक माता से अनन्त गुना स्नेहमयी, वात्सल्यमयी है । इस माता में तो उसकी छाया मात्र है । जब छाया इतनी सुन्दर है तो स्वरूप की सुन्दरता का तो कहना ही क्या ? प्रभु की जगन्माता बनकर काम करने से ही तिर्यक् योनि के क्षुद्र प्राणियों में भी प्रसविनी में वात्सल्य उमड़ उठता है । फलतः एक खगी पक्षिणी भी अपने नवजात के साथ वात्सल्यमय मानुष सा व्यवहार करती है । मनुष्य विचारवान है खग आदि नहीं एक विचारहीन का विचारवान् सा व्यवहार देखने से ही दैवी शक्ति की उपस्थिति ज्ञात होती है । गाय को देखिये अपने नवजात के पास किसी को जल्दी जाने नहीं देती । गो समूह में गाय तथा बछड़ा अपने अपने शिशु माता को पहचान लेते हैं, यह सब वात्सल्य ही तो है । लोक के इन निदर्शनों को देखकर जीव को चाहिये की वह भी महाममता सिन्धु अपने आराध्य की गोद में बैठकर निश्चिन्त हो जावे, धन्य हो जावे । माता के उत्संग में बैठे हुये को चिन्ता कैसा, भय कैसा, शोक कैसा बड़े बड़े उपासकों ने भी प्रभु को माता रूप में देखा है । सामान्यतः भी लोक में उच्चारण करते समय माता पिता सीताराम, राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण आदि ही कहा जाता था, पिता माता राम सीता आदि नहीं । भक्त जिस रूप में

भगवान् को देखना चाहता है भगवान् उसे उसी रूप में दर्शन देते हैं । जगद्गुरु शंकराचार्य जी एक स्थल में भगवान् कृष्ण से माता के वात्सल्य की याचना करते हैं—

माया हस्तेऽर्पयित्वा भरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवं मां,
मातः कृष्णाभिधाने चिरसमयमुदासीनभावं गतासि ।
कारुण्यैकाधिवासे सकृदपि वदनं नेक्षसेत्वं मदीयं,
तत्सर्वज्ञे न कर्तुं प्रभवति भवती किं न मूलस्य शान्तिम् ।।

अर्थात्—हे मेरी कृष्ण नाम की माँ । मैं तुम्हारा मोह रूपी अभुक्त मूल नक्षत्र में उत्पन्न अभागा शिशु हूँ । मेरे मुख दर्शन में अनिष्ट की आशंका से तुम मुझे माया रूपी दुष्ट धाय के हाथ में सौंपकर कर बहुत समय से उदासीन हो गई हो । करुणामयी ! क्या तुम एक बार भी मेरा मुख नहीं देखोगी ? यदि मूल का कोई दोष है तो तुम तो सर्वज्ञा हो, क्या इस मोह मूल की शान्ति नहीं हो सकती ? मोह (अज्ञान) रूपी अभुक्त मूल नक्षत्र में जन्म का तात्पर्य है— अनादि अज्ञान से स्वस्वरूप की विस्मृति और स्वयं में बन्धन की भ्रान्ति । कुछ लोग कहते हैं, हम भगवान् की शरण में कैसे जायें, हम तो संसार के बन्धन में पड़े हुये हैं । परन्तु विचार किया जाय तो सभी बन्धन अज्ञानमूलक ही सिद्ध होते हैं । 'पड़े हुए हैं' इस क्रिया का कर्त्ता संसार नहीं, हम ही हैं। ऐसी स्थिति में बन्धन कैसा ? हम चाहें तो उठ सकते हैं ।

विचार के प्रतिबन्धक दो प्रकार के विषय हैं— एक तो लब्ध है और दूसरा अलब्ध है । यही मिथ्या माया पाश है । गोस्वामी जी के शब्दों में—

सो मायाबस भयउ गुसाई । बँध्यो कीर मर्कट की नाई ।।

कीर तोता अलब्ध लाभों के लोभी का परिचायक है, और यह मर्कट लब्ध लाभों के लोभी का । शिकारी लोग वन में बांस गाड़ कर रस्सी के सहारे नली बाँध देते हैं और उसके नीचे तोतों का प्रिय खाद्य डाल देते हैं । तोता उस नली में बैठता है और वह उलट जाती है । वह बार बार चेष्टा करता है और बार बार उलट जाता है । अतः गिरने के भय से नली को ही जकड़ कर पकड़ लेता है और छोड़ने का नाम नहीं लेता, फल तो

मिलता ही नहीं शिकारी आकर उसे झोले में रख लेता है, किन्तु तोता नली छोड़ने का नाम नहीं लेता । वह समझता है नली ने उसे पकड़ रखा था, जबकि वह स्वयं नली को जकड़े हुये था । उसीप्रकार जीव की भोगासक्ति है । वह समझता है संसार ने उसे पकड़ रखा है, जबकि उसने स्वयं संसारिक भोगों को जकड़ रखा है । मनुष्य सामने के भोगों को प्राप्त करने के लिये तड़पता है, व्याकुल होता है और इसी में काल की झोली में समा जाता है ।

लगभग यही दशा बन्दर की भी । बन्दर को पकड़ने के लिए लोग खेतों में संकरे मुँह वाले घड़े गाड़ देते हैं और उसमें खाद्य पदार्थ रख देते हैं । श्रीमान् बानर देवता उसमें हाथ डालकर पकड़ते हैं, मुट्ठी बंध जाने और घड़े का मुँह संकरा होने से हाथ नहीं निकलता । वह मुट्ठी खोलकर हाथ निकाल सकता है किन्तु लोभ जो है । साथ ही वह यह सोचता है कि उसने नहीं अपितु घड़े ने ही उसका हाथ पकड़ रखा है । वह सोचता है कि उससे उसका हाथ छूट ही नहीं सकता । अन्ततः पकड़ा जाता है । और शिकारी के जाल में स्वकल्पित अज्ञान के कारण सदा के लिये आबद्ध हो जाता है । यह उन लोगों का प्रतीक है जो अनुकूल विषयों की प्राप्ति पर उन्हें पकड़कर बैठ जाते हैं, किन्तु भोग नहीं सकते । यही दशा कमल में बँधे भ्रमर की भी होती है । यदि वह चाहे तो कमल दलों को काटकर उड़ सकता है, किन्तु उड़े कैसे, आसक्ति बन्धन नहीं काटने देती । किसी कवि की उक्ति है —

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि, प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत् ।

दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रि निष्क्रियो भवति पंकजकोशे ॥

अर्थात्—संसार में यद्यपि बहुत से बन्धन हैं पर उनमें प्रेम का बन्धन विलक्षण ही है जो भ्रमर कठोर काष्ठ के क्रन्तन में समर्थ है वह भी पंकजकोश के भेदन में निष्क्रिय हो जाते हैं । ऐसा ही जीव, जो प्रभु के अभेद्य और अकाट्य सम्बन्धों को तो काट डालता है, किन्तु सांसारिक बन्धनों को नहीं ।

ये बन्धन संतों को आबद्ध नहीं कर पाते । वे उनको तोड़ देते हैं

उनके लिए सांसारिक बन्धनों का कोई महत्व नहीं रहता । यदि संसार कुत्ते की पूँछ सी अपनी कुटिल अवस्था नहीं छोड़ता, तो संत भी अपने शुद्ध स्वभाव को नहीं छोड़ता । कथा है कि एक बार नदी में स्नान करते हुये एक महात्मा ने बहते हुए असहाय बिच्छू को देखा । मन में बड़ी दया उमड़ी और उन्होंने उसे हाथ में लेकर तट पर लाना चाहा । किन्तु हाथ पर उसे रखा ही था कि उसने डंक मारा महात्मा का हाथ ऐंठने लगा । वह बार बार डंक मारता और महात्मा बार बार उसे पानी से उठाते, यह देखकर लोगों ने कहा 'महात्मा'? इसके बार बार डंक मारने पर भी आप क्यों इसे उठाते रहते हैं । उन्होंने हंसकर उत्तर दिया, जब यह दुष्ट अपना दुष्ट भाव नहीं छोड़ रहा है तो मैं ही क्यों साधु स्वभाव छोड़ दूँ ? संसार में ऐसे संतों का अभाव नहीं है । कुछ लोग ज्ञान की बात तो करना सीख जाते हैं पर उनका मानसिक धरातल ज्यों का त्यों रहता है, ऐसे लोगों से बचना चाहिये । उनकी दशा उस तोते सी होती है जो मुँह से तो रटा रटाया वाक्य जपता रहता है किन्तु उसे अपनी अवस्था और अपने बन्धनों का ज्ञान नहीं रहता । एक बार एक महात्मा को बाँस की नलिका में लटके तोतों को देखकर दया आ गई, उन्होंने घूम घूमकर वन के समस्त तोतों में प्रचार किया की 'बन्धुओं' नलिका तुमको नहीं पकड़ती तुम ही उसको पकड़कर बंध जाते हो, तुम चाहो उसको छोड़कर सहज ही उड़ सकते हो' । महात्मा जी के इस उपदेश का खूब प्रचार हुआ । उन्हें संतोष था कि अब कोई तोता नही पकड़ा जा सकेगा किन्तु उस समय उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने बाँस की नलिका में लटके हुये तोतों को उनके इस उपदेश को बार-बार दुहराते सुना । यदि उन तोतों ने मुँह से रटना छोड़कर व्यवहार में उसका अंश भी लाया होता, तो उनका कल्याण हो गया होता । अतः यदि मुख से अधिक न कहकर अपने व्यवहारिक जीवन में ही दो चार बातें अपनाई जावें तो अच्छा हो । इससे अपना भी कल्याण होगा और लोक का भी ।

साधकों अर्थात् भक्तों को चाहिये कि वे कथनी को छोड़कर करनी का मार्ग पकड़ें और प्रभु के श्रीचरणों में अपना सर्वस्व चढ़ाकर स्वरूप लाभ

करें ।

भगवान् के मन में भक्तों के प्रति वही प्रेम भाव रहता है, वह भले ही अपने को अपराधी समझें, क्योंकि भगवान् की वात्सल्य मन्दाकिनी में प्रविष्ट होते ही उनके सारे पाप समाप्त हो जाते हैं । भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है कि—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः ।।

(गीता 9.30)

भरत का ही दृष्टान्त देखिये । वे चित्रकूट की ओर राम के समस्त दुःखों कारण अपने को समझाते चले जा रहे हैं । अपनी माता के कृत्यों का स्मरण करने पर उनके चरण मानों भूमि में गडने लगते हैं, उठते ही नहीं । किन्तु जब भगवान् राम के स्वभाव का उन्हें स्मरण आता है तो उत्साह के कारण उनके चरणों की गति तीव्र हो उठती है । हुआ भी वही जब वे चित्रकूट पहुँचे तो भगवान् राम ने देखते ही उनको अपने बाहु—पाश में कसकर हृदय से लगा लिया । वाह ! भगवान् भक्तों को हृदय में बैठाते हैं । हृदय से लगाते हैं और भक्त भगवान् को । धन्य है दोनों की समान आकांक्षा ।

ज्ञानी और भक्त ये दो प्रभु के पुत्र हैं । भक्त पूर्ण प्रपन्न, भगवदाश्रित अबोध—शिशु की भाँति है तथा ज्ञानी वयस्क की भाँति । जिस प्रकार माता के लिये छोटे बड़े दोनों ही पुत्र प्रिय हैं तथापि अबोध, अज्ञानी, निराश्रय छोटे के प्रति उसका प्रेम होना स्वाभाविक है । उसी प्रकार सर्वभावेन शरणागत भक्त के लिये प्रभु भी अधिक चिन्तित रहते हैं । उन्हें पता है कि ज्ञानी का हृदय तो अचल हिमालय है, वह डिग नहीं सकता । अतः देखना भक्त को है । महर्षि व्यास तथा महात्मा विदुर दोनों की दृष्टि से कौरव और पाण्डव दोनों समान होने चाहिये थे, किन्तु पाण्डवों की ओर दोनों का झुकाव केवल उनकी असहायता के कारण था । महाभारत में एक कथा है कि एक ही गाय के दो बच्चे एक सबल तथा दूसरा निर्बल एक ही हल में जुते थे । हलवाहा दुबले को पीट रहा था और सबल को पुचकार रहा

था । यह देखकर बेचारी गौ रो रही थी । नारद जी — जो प्रायः ऐसे अवसरों पर उपस्थित मिलते हैं— उससे पूछने लगे—‘बड़े की पुचकार से प्रसन्न क्यों नहीं होती’ दोनों ही तो तुम्हारे पुत्र हैं ? वह बेचारी बोली “महाराज, भ्रमर दोनों पर समान है, तथापि बड़े पर भरोसा है वह किसान को भी अधिक प्रिय प्रतीत हो गया है, चिन्तनीय दशा वाला तो दूसरा है । अतः करुणा व दया का पात्र वही है । यह दुःख देखा नहीं जाता” । फल हुआ, की नारद ने इन्द्र से कहकर वर्षा करा दी और बैल खोल दिये गये इसीप्रकार प्रभु को भक्त की चिन्ता रहती है । ज्ञानी का हृदय दृढ़ है, उसकी आस्था हिमालय सी अटल है और भक्त का हृदय अगाध जल वाला महासिन्धु, जिसमें निरन्तर भक्ति भाव की लहरें उठा करतीं हैं । अतः ज्ञानी बनने के लिए हिमालय बनो और भक्त बनने के लिए समुद्र ।

“वत्स” से ‘वत्सल’ तथा वत्सल से ‘वात्सल्य’ बना है । वत्स शब्द का हिन्दी रूप ‘बच्छ’ ‘बाछा’ ‘बछड़ा’ ‘बछिया’ आदि हो गया है । इसका सम्बन्ध गौ से अधिक निकट का है । जिस प्रकार गाय अपने सद्योजात वत्स के अंग में लिपटे रज गोबर और मूत्र को देखकर उससे घृणा नहीं करती किन्तु स्नेहावेश से चाट चाट कर उसके अंगों को स्वच्छ बना देती है । उसी प्रकार परम कारुणिक भगवान् भी आश्रितों के दोषों को देखकर उनका त्याग नहीं करते, अपितु अपनी स्नेहमयी दृष्टि से उनको पवित्र बना देते हैं ।

अपराधी से भी अपराधी व्यक्ति को यदि वह भक्त है तो भगवान् उसे पूर्ण पवित्र समझते हैं । वे सदा भक्त के कष्टों को दूर करने की सोचते हैं । उस भगवान् की शरण में जाने से ही जीव को अपार प्रेम मिलता है और वह धन्य होता है, सभी कष्टों से छुटकारा पाता है । अतः जीव को चाहिये कि वह भगवान् की शरण में जावे और कष्ट मुक्त होवे ।

तृतीय प्रसून

प्राणी को चाहिये कि वह अपने को भगवान् को समर्पित कर दे । और प्रभु के प्रेम में आप्लावित हो ले, क्योंकि उसके सबसे बड़े हितैषी और मित्र वे ही हैं । वेद ने प्रभु और जीव में सख्य-सम्बन्ध माना है । ईश्वर पालक सखा और जीव बालक सखा । जिसने उनको सच्चे अर्थों में पहचाना है, प्रभु उसके सच्चे मित्र की भाँति सुख दुःख के साथी रहते हैं । जीवों को इस बात पर विश्वास नहीं होता । ऐसी स्थिति माता से भी कोटि गुणित हितैषिणी भगवती भास्वती श्रुति जीव से कहती हैं— वत्स ! तुम आशा कल्पलता को पल्लवित करो, निराशा पिशाची को दूर हटाओ । दोनों में साजात्य है तुम सुपर्ण हो, शोभन पंख वाले दो पक्षी हो । असजातियों का सम्मेलन असम्भावित होता है सजातियों का नहीं । कदाचित् सजातियों में भी वैमनस्य देखा जाता है किन्तु तुममें परस्पर सख्य भी है । भ्राताओं में भले ही स्वार्थ को लेकर मतभेद हो जाये पर मित्रों में यह असम्भव है । अपने पर्वत के समान दुःख को रज के समान और मित्र के रज के समान दुःख को पर्वत के समान समझना मित्र धर्म है । जीव सोचता है मित्रों का भी दुर्दैववश वियोग देखा ही जाता है । भाद्र की अमावस्या की अन्धकारमयी तमिस्रा रात्रि में कड़कती बिजली और बरसते मेघों के रहते चक्रवाकी और चक्रवाक में से एक नदी के इस पार तो दूसरा नदी के उस पार हो जाता है । इस पर श्रुति दोनों के सादेश्य बोधन करती हैं “समानं वृक्षं परिष्वजाते” अर्थात् तुम दोनों एक ही संसार रूपी वृक्ष की शरीर रूपी टहनी पर बैठे हो, तुममें सख्य के साथ साथ सादेश्य भी है । तुमसे तुम्हारा सखा दूर नहीं है । यह सब होने पर भी अनात्मा में उतना प्रेम नहीं होता अतः कहती है केवल सादेश्य ही नहीं तुम में तो सायुज्य (तादात्म्य) भी है । तुम अन्तःकरण रूपी दर्पण के प्रतिबिम्ब और ईश्वर बिम्ब ।

इसलिये अदम्य उत्साह से परमेश्वर प्राप्ति के मार्ग में बढ़ो । केवल तुममें इतना ही अन्तर है कि तुम भोक्ता और वह अभोक्ता है, तुम संसार वृक्ष के सुख दुःख रूपी फल को खाते हो और वह अभोक्ता केवल द्रष्टा है ।

जीव और ईश्वर के सम्बन्ध का वर्णन करने वाली वह श्रुति है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति ।।

(मुण्ड 03.1.1)

निराशा के कारण जीव परमात्मा की प्राप्ति से वंचित न रह जाये अतः शास्त्र इस निराशा से उद्धार का उपाय बतलाते हैं । उनके अनुसार प्रभु और जीव में तादात्म्य—सम्बन्ध है । मैत्री का भी आधार आत्मीयता ही है । अतः जहाँ आत्मीयता न होकर तादात्म्य भी हो, उस सख्य का क्या कहना, अन्तःकरण रूपी दर्पण में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, यह प्रतिबिम्ब ही जीव है और जो प्रतिबिम्बित होता है, वह ईश्वर है । प्रतिबिम्ब से बिम्ब का अभेद सम्बन्ध है । बिम्ब ही प्रतिबिम्बित होता है । प्रतिबिम्ब की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । इसी प्रकार जीव का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, वह तो प्रभु की छाया ही है । आश्चर्य है कि जीव प्रभु के इतना निकट का सम्बन्धी होते हुये भी अपने को दूर का समझ रहा है । इस निकटता का ज्ञान होते ही वह आत्म—विभोर हो जाता है । अतः हे जीव! तुम आशाकल्प लता को पल्लवित करो और निराशा पिशाची को दूर भगाओ ।

कुछ लोग इस 'द्वा सुपर्णा' श्रुति को अद्वैत श्रुतियों के विरुद्ध उपस्थित करते हैं, किन्तु विरोध तुल्य बल वालों का ही होता है । "तत्पराणि अतत्परेभ्यो बलीयांसि" इस न्याय से अद्वैत श्रुतियां स्वार्थ तत्पर होने के कारण इस अतत्पर—श्रुति से बाधित नहीं होतीं । यह तो लोक सिद्ध द्वैत का अनुवाद करके जीव ईश्वर के सख्यादि सम्बन्धों का बोधन करती हुई जीव के उत्साह जनन में पर्यवसित हो जाती है । अतः द्वैत के प्रतिपादन में इसका तात्पर्य नहीं प्राणी को अपार निश्छल प्रेम भगवान् से ही प्रतिफल के रूप में प्राप्त हो सकता है । अन्य प्रेम सम्बन्धों से प्रताड़ना, भय, शोक, क्रोध, आदि प्राप्त होते हैं, किन्तु प्रभु से प्राप्त होती

है अनवरत प्रवाहित होने वाली कृपामृत की धारा । अन्य सम्बन्धियों से मिलने तथा होने वाला प्रेम या स्नेह स्थायी नहीं होता । यह संसार महास्वार्थी है । इसका प्रेम, सख्य, दया, स्नेह आदि का भाव स्वार्थ—सिद्धि पर्यन्त रहता है । स्वार्थ की पूर्ति हुई नहीं कि सम्बन्ध में न्यूनता आई । जब तक स्थायी तथा अस्थायी प्रेम का भेद विदित नहीं होता, स्थायी की ओर मन बढ़ता नहीं । अतः लोगों को चाहिये कि ठोकर खाने और निराश होने से पहले ही साधु, सन्त और शास्त्रों के उपदेशानुसार आचरण कर स्थायी प्रेम के आधार को समझें । भगवान् को ही अपना प्रेम पात्र तथा प्रियतम समझें । उन्हीं का प्रेम हमारे मन और मस्तिष्क को शान्ति तथा आनन्द दे सकता है ।

अब प्रश्न है कि प्रेम है क्या ? इसकी परिभाषाएं हो सकती हैं, किन्तु सबसे स्थूल परिभाषा है कि 'सौन्दर्य—ज्ञान से उत्पन्न इच्छा विशेष प्रेम है ।' प्रेम की अल्हड़ अभिव्यक्ति महात्मा सूरदास के इस वाक्य में देखी जा सकती है । यशोदा को राधा का कृष्ण के साथ अधिक रहना और घर आना अच्छा नहीं लगता । अतः वह अपना भाव व्यक्त करती हैं । राधा कृष्ण के उन शब्दों को कहती हैं और ताना मारती हैं जिनको कहकर कृष्ण उसे बुला लाते हैं—

“बार बार तू ह्याँ जनि आवै,

मैं कहा करौं सुतहि नहिं बरजति ।

घरतें मोहिं बुलावै,

मोसों कहत तोहिं बिनु देखे रहत न मेरो प्रान ॥

यही देखने के पश्चात् सान्निध्य हेतु विकलता और सन्निधि में आनन्द विह्वलता ही प्रेम है ।

फिर सुन्दरता क्या ? संस्कृत में कुछ विद्वान कहते हैं । कि जिसका देखने से हृदय को तृप्ति न हो, निरन्तर देखते रहने की ही अभिलाषा हो और वह रूप भी कहीं पुराना न प्रतीत होकर क्षण—क्षण नवीन ही नवीन प्रतीत हो वही सौन्दर्य है, वही रमणीयता है—

‘क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः’ ।

इसी भाव को दूसरे लोग दूसरे शब्दों में कहते हैं कि सुघट अंगों के समुचित सन्निवेश से उनसे विलक्षण ही प्रतिभासित होने वाला तत्त्व सौन्दर्य है । कुछ लोग सौन्दर्य को विषयगत अर्थात् पदार्थगत मानते हैं, कुछ विषयी अर्थात् द्रष्टागत और कुछ उभयगत कोई कहता है—

वह चितवनि और कछु, जा बस होहिं सुजान ।
कोई कहता है —

समय समय सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय ।
और किसी के अनुसार —

रूप रिझावन हार यह, वे नयना रिझवार ।

भिन्न—भिन्न प्रसंगों में सबकी सत्यता प्रतिपादित की जा सकती है, किन्तु विषयीगत सौन्दर्य का मत आज के रसवादियों और सौन्दर्य शास्त्रियों में महत्व का विषय बनता जा रहा है । देखा जाता है कि दुःखी व्यक्ति को सारे लोक में सुख नहीं मिलता, सुखी के लिये समस्त विश्व दुःखी नहीं, और उदासीन मनोवृत्ति वाले के लिये न सुख है न दुःख ।

एक माता अपने रूपहीन सन्तान को भी रूपवान् तथा दूसरे को अपेक्षाकृत न्यून ही समझती है ।

वस्तुतः सौन्दर्य वर्णन का नहीं, अनुभूति का विषय है । इसका शुद्ध अनुभव भी वही कर सकता है जिसका अन्तःकरण और दृष्टि दोष रहित होकर अज्ञान तथा प्रमाद से मुक्त होकर एक विशेष सामर्थ्य से युक्त है । भगवान् आद्यशंकराचार्य आनन्द लहरी में कहते हैं—

घृतं क्षीरद्राक्षा मधुमधुरिमा कैरपि पदै
विशिष्यानाख्येया भवति रसना मात्र विषयः ।
तथा ते सौन्दर्य परमशिवदृङ्मात्रविषयः
कथंकारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे ॥

हे परमैश्वर्य शालिनी भगवती ! हे समस्त शास्त्रों द्वारा भी कथित गुणों की अपेक्षा अधिक गुणशालिनी माता ! जिस प्रकार घृत, क्षीर, दाख, मधु आदि की मिठास अलग—अलग स्पष्ट रूप से शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं की जा सकती, वह केवल शुद्ध एवं दोष—रहित रसना की अनुभव की

अनुभूति का विषय है, उसी प्रकार आपका अपार सौन्दर्य तो केवल परम शिव के नेत्रों का ही विषय है, हम उसका किन रूपों में वर्णन कर सकते हैं ।

इसी प्रकार जिसकी दृष्टि सर्वत्र आत्मीयता का दर्शन करती है उसको ही अतुल सौन्दर्य का दर्शन हो सकता है । वस्तुतः आत्मीयता ही सौन्दर्य है । दूसरे शब्दों में वही सुन्दर और प्रिय होता है जिसमें आत्मीयता का भाव होता है । इसी आत्मीयता के सम्बन्ध से पुत्र प्रिय है, पत्नी सुन्दर है आदि—आदि । महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी मैत्रेयी से यही कहा था—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति

आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति

आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं भवति ।

आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति ।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो

निदिध्यासितव्यः मैत्रेयिः ।

आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् ।

यह सोचने का विषय है कि जीव जो कि एक महाबिम्ब का प्रतिबिम्ब मात्र है, यदि प्रतिबिम्बता के ही रूप पर मुग्ध है, तो कितना कोटि गुना सुन्दर होगा वह महाबिम्ब । हम देखते हैं कि छाया से कहीं अधिक उग्र और शीतल है, क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा का बिम्ब, किन्तु हमारा ध्यान पारमार्थिक विषयों की ओर जाता ही नहीं । आत्मा और परमात्मा ही सर्व सुन्दर है । उनके संसर्ग और छाया से असुन्दर भी सुन्दर प्रतीत होने लगता है । सूर्य की छाया से जल भी दीप्त हो जाता है । चन्द्रबिम्ब से दर्पण भी चमक उठता है और चन्द्रकान्त मणि द्रवित हो उठती है । प्रेम तो सुन्दर से ही होता है । सुन्दर हमारी आत्मा है और आत्मा ही परमात्मा है । हमारा प्रिय हमारे भीतर ही है । अतः अपने प्राणों के भी प्राण को चाहने वाले का कल्याण हो जाता है । यह निश्चित है । संसार में कहीं

से भी प्रेम की आशा नहीं करनी चाहिये । विपत्ति में सांसारिक प्रेमी की आँखें बदल जाती हैं । जो माता पिता मल मूत्र में सोये और अनन्त कष्ट सहते रहे, वृद्धाश्रम में आँख की किरकिरी बन जाते हैं । इस स्वार्थमय सांसारिक प्रेम का अनावरण सत्संग में होता है । वहीं दुःख और अशान्ति समाप्त हो जाते हैं ।

संसार की असारता ज्ञात होने पर ही परमेश्वर में अविचल श्रद्धा और भक्ति, प्रेम, और अनुराग आदि हो सकते हैं । उसके लिये जगत ही उलट जाता है, इसका अर्थ ही बदल जाता है । एक महात्मा जी अपने को रागी कहा करते थे । लोगों को आश्चर्य होता था इस उक्ति पर । एक सन्न्यासी और रागी, यह कैसे ? उन्होंने पूछने पर बतलाया कि जिसके राग में स्थिरता हो वही वस्तुतः रागी कहा जा सकता है । और जिसका रागास्पद परिवर्तित होता रहता है, राग की परिणति द्वेष या उपेक्षा में हो जाती है वही विरागी । इस आधार पर संसार विरागी और भक्त रागी सिद्ध होता है । वस्तुतः जिसने परमात्मा से प्रेम किया वह रागी नहीं तो विरागी कैसे ? वह तो महारागी है, क्योंकि परमात्मा जैसे महान् तत्त्व से उसका राग है, प्रेम है । जिस प्रकार छोटे-छोटे नाले और पनाले एक महानदी से मिलकर, अपना मार्ग और अस्तित्व बदल कर एक महा-सिन्धु में प्रवाहित होकर समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार के शब्द, अर्थ और भाव एक प्रभु प्रेम की अजस्र महाधारा में मिलकर अपना सर्वस्व बदल देते हैं, सबका प्रवाह भगवत्तत्त्व में हो जाता है । वही शान्ति है, वही आनन्द है । वही सब कुछ है । अतः जहाँ प्रेम है, वहाँ आनन्द है, जहाँ आनन्द है वहीं आत्मीयता है और जहाँ आत्मीयता है वहाँ सौन्दर्य है, इस प्रकार प्रेम, आनन्द, आत्मा, सौन्दर्य सब एक हो जाते हैं । सौन्दर्य का पर्यवसान परमात्मा में होता है ।

लोग कहेंगे प्रेम हो कैसे ? यथार्थतः प्रेम पदार्थ नहीं, भाव है । कोई अत्यन्त निकट हो किन्तु उसके प्रति भाव हो दूरी का, तो वह निकट नहीं हो सकता । इसी प्रकार दूरस्थ के प्रति निकटता का भाव भी निकटता ही है । कहा भी गया है—

“कुमोदिनी जलहर बसै चन्दा बसै अकास ।

जो जाही को भावता सो ताही के पास ॥

अपने मन मन्दिर में बैठे हुये श्याम को, कण—कण व्यापी भगवान् को अपने से बाहर समझना ही प्रेम न करना है, उनसे दुराव है, और सर्वदा पूर्णरूप से अपने में विद्यमान समझना, कण—कण में समाहित समझना उनसे प्रेम है । संसार के लोग अनुभव करते हैं कि दूर रहने पर भी उनके पुत्र, माता, पिता, बन्धु, पति, पत्नी, प्रियतमा आदि प्रतिक्षण उनके नेत्रों के सामने छाये रहते हैं, यहाँ तक की स्वप्न में भी वही रहते हैं । यही तो प्रेम है । अतः भगवान् को पाने के लिये हमें उनको अतिनिकट देखना होगा, यही नहीं अपने भीतर देखना होगा । आत्मा को ही परमात्मा समझना होगा । भला आत्मा से कौन प्रेम नहीं करता ?

आत्मा का सम्बोधन मैं शब्द से होता है । अर्थात् अपने को लोग “मैं” कहते हैं । पढ़े लिखे लोग विशेषकर संस्कृतज्ञ, जानते हैं कि भगवान् को पुरुषोत्तम कहा गया है । उसका खण्ड है—पुरुष+उत्तम । इसी को उलट देने पर उत्तम पुरुष बनता है जिसका अर्थ होता है ‘मैं’ ‘हम’ । अतः इससे यह सिद्ध होता है कि यह पुरुष ही आत्मा है, और परमेश्वर ही उत्तम पुरुष है—पुरुषोत्तम है । यही आत्मा परमात्मा है । अपने आपको सर्वोपाधि विनिर्मुक्त ब्रह्म समझने वाला ही गीता के शब्दों में सर्ववित् है । परम प्रेमास्पद परमानन्द स्वरूप प्रत्यगभिन्न परमात्मा की ही सगुण साकार ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्ति होती है । अतएव निरतिशय सौन्दर्य उन्हीं में निवास करता है । भगवान् का यह सगुण रूप अत्यन्त विमोहक है, साथ ही अजर—अमर भी । प्रलय में भी इसका क्षय नहीं होता । सौन्दर्य के साथ शाश्वतता का योग भगवान् में ही उपलब्ध होता है, जब कि संसार में सुन्दर प्रतीत होने वाले अन्य सभी प्राणी पदार्थ अशाश्वत हैं । प्रलय में शिव के तीसरे नेत्र से भयंकर महाज्वाला प्रज्वलित होती है । सब भस्म हो जाते हैं । विष्णु नहीं जलते क्योंकि वे शंकर की अन्तरात्मा हैं । जलाने वाला जल ही जाये, यह सिद्धान्त नहीं । हरि और हर दोनों एक ही हैं । दो नहीं, एक तत्त्व के दो विलास हैं । शिव की स्वरूपभूता शक्ति भगवती

भी नष्ट नहीं होतीं । वह सौन्दर्य और उसका आधार अक्षय हैं ।

राम के विवाह काल में दृष्टियों की होड़ लगी है । ब्रह्मा आठ नेत्रों से, कार्तिकेय बारह नेत्रों से सौन्दर्य देखते हैं । इन्द्र ने तो अपने शाप को वरदान समझ सहस्र नेत्रों से देखना आरम्भ किया । गोस्वामी तुलसीदास जी ने केवल इसी स्थान पर 'सुजाना' कहा है, वह भी सहस्र नेत्रों से देखने के सौभाग्य के कारण । भगवान् शिव को जब दो नेत्रों से सन्तोष न हुआ तो उन्होंने पाँचों मुख के दो दो नेत्रों—सब मिलाकर दस नेत्रों से देखना प्रारम्भ किया । तृप्ति नहीं हुई तो तभी तीसरे नेत्र को भी खोल दिया । कुछ भक्तों का कथन है कि जब भगवान् शिव के हृदय को भगवान् राम के सौन्दर्य ने आकृष्ट किया तब उनको उस सौन्दर्य की शाश्वतता की जिज्ञासा हुई । उन्होंने यह सोचकर तृतीय नेत्र खोला कि यदि यह अशाश्वत (काम) होगा तो जल जायेगा । काम और राम में यही अन्तर है—जो शिव के तृतीय नेत्र से जल जाये वह काम और जो न जले वह राम । काम आशाश्वत है, राम शाश्वत है । किन्तु उससे राम तो जले नहीं, उन नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे । जिस प्रकार समुद्र मन्थन के समय भगवान् शिव ने कालकूट विष पीकर लोक कल्याणार्थ अपनी देवाधिदेवता प्रकट की । उसी प्रकार शिव के तृतीय नेत्र के गोचर बनकर भगवान् राम ने भी अपने सहज अमर्त्यत्व का परिचय दिया ।

स्मरण रहे कि शिव के क्रोध से तृतीय नेत्र खोलने से ही ज्वाला निकलती है । स्नेह से खोलने पर नहीं । लोक में भी क्रोध तथा स्नेह से देखने पर नेत्रों में पृथक्—पृथक् भाव लक्षित होते हैं, परिणाम भी भिन्न—भिन्न होते हैं । एक ही मन्त्र भिन्न—भिन्न संकल्पों से भिन्न—भिन्न फल देता है । सभी राम के रूपातिशय की थाह लेने जाते हैं, किन्तु सौन्दर्य विमुग्ध होने से आत्म विस्मृत हो जाते हैं । परीक्षा कौन करे ? परीक्षक को तो सचेत होना चाहिये परीक्षा और वह भी प्रभु की कौन करे ?

जीव को परीक्षा का भाव छोड़कर प्रेम भाव अपनाना चाहिये उनको जानना ही उनसे प्रेम करना है । उनको जाना जा सकता है उनके चरित का श्रवण करने से, उनके नाम का जाप करने से । भगवान् और भक्त का

अतिशय निकटता का सम्बन्ध ही भक्ति भाव है । जीव का कल्याण इसी में है कि वह सांसारिक द्वन्दों को छोड़कर हरिचरणों की शरण गहे । उनसे ही प्रेम करना सार्थक है ।

चतुर्थ प्रसून

भगवान् के स्वरूप, सौन्दर्य स्वभाव तथा महात्म्य का यथार्थ बोध उनके पावन चरित्रों के श्रद्धा और प्रीति से युक्त होकर चिरकाल तक श्रवण एवं मनन से होता है । सांसारिक सौन्दर्य आपेक्षिक और सीमित हैं अतः उनका ज्ञान भी शीघ्र हो जाता है, किन्तु प्रभु का चरित अनन्त होने से उनकी कथाएं भी अनन्त हैं, उनके ज्ञान के लिए निरन्तर श्रवण आवश्यक है ।

जगज्जननी अनन्त सौन्दर्य सौभाग्यवती जानकी का स्वरूप अनुपम अतुलनीय एवं वर्णनातीत है जितना ही उनके सौन्दर्य का विचार किया जाय कम ही है । आलंकारिक साहित्य शास्त्री महाकाव्य में मुख्य नायिका का नख सिख वर्णन आवश्यक मानते हैं, अन्य महाकाव्यकारों ने नायिका का नख-सिख वर्णन किया है, किन्तु गोस्वामी जी कैसे करते उनकी दृष्टि में श्रीजानकी जी काव्य नायिका नहीं, जगज्जननी हैं । जननी का और वह भी जगज्जननी का नायिका के रूप में ही मानकर नख-सिख वर्णन कैसे होता ? किन्तु इस वर्णन के अभाव में उनके मानस काव्य में न्यूनता नहीं आती । ऐसे विषयों का श्रीगोस्वामी जी ने कहीं परोक्ष रूप में तथा कहीं प्रत्यक्ष भी ससंकोच वर्णन करके अद्भुत माधुर्य की सृष्टि की है । जानकी हरण के अनन्तर विरह व्याकुल राम के द्वारा खग, मृग, मधुकर, लता, तरु आदि में श्री सीता का अन्वेषण करते समय उनके नख-सिख की शोभा व्यंजित होती है देवता परोक्ष प्रिय होते हैं 'परोक्ष प्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' इस दृष्टि से शृंगार वर्णन में व्यंजना का आश्रय लिया जाना अभिप्रेत अर्थ के उपस्थान की उत्तम शैली ही मानी जायेगी । लोक में परोक्ष समालोचना ही शिष्टों में समादृत होती है ।

हे खग हे मृग मधुकर श्रेणी । तुम्ह देखी सीता मृग नैनी ।।

खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥
 कुंद कली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहि भामिनी ॥
 बरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रशंसा ॥
 श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
 सुनु जानकी तोहिं बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥
 आदि चौपाइयाँ उक्त प्रसंग में अवलोकनीय हैं । अन्यत्र भी
 सोह नवल तनु सुन्दर सारी । जगत जननि अतुलित छवि भारी ॥
 एवं

बहुरि वदन विधु अंचल ढाकी,
 प्रिय तन चितइ भौंह करि बांकी ।
 खंजन मन्जु तिरीछे नयननि,
 निज प्रिय कहेउ तिनहिं सिय सयननि ।

के प्रसंग इस विषय के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ।
 कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥

जैसे स्थलों पर उनके शृंगार और आभूषणों का भी मानस में उल्लेख हुआ है । गोस्वामी जी ने प्रायः ही ऐसे अवसरों पर परोक्ष विधि का अनुसरण करके अपने काव्य रस को मानों किसी सुन्दर वस्त्र से आवृत किया है । भक्त भूषण गोस्वामी जी ऐसे ही एक विशेष स्थल पर भगवती के अमूर्त सौन्दर्य का— लावण्य सामान्य का अनोखा चित्रण करते हुये कहते हैं कि माँ जानकी के सौन्दर्य माधुर्य का वर्णन कैसे किया जाय । सुन्दरता को तो उन्हीं से सौन्दर्य मिलता है । उनका सौन्दर्य छविगृह का भी—सौन्दर्य निधान का भी प्रकाशक है—

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई । छविगृह दीप सिखा जनु बरई ॥

अर्थात् जानकी जी वह दीपशिखा हैं जो छविगृह को भी आलोकित करती हैं, संसार की आभा, प्रभा, कान्ति, उन्हीं के प्रकाश को पाकर अपना स्वरूप लाभ करतीं हैं । उनके ही रूप से जगत का रूप है । यही बात

तुलसीदास जी ने कहकर स्पष्ट की है । सीता भी प्रकाशिका और राम भी प्रकाशक वह भी एक विश्व के । यह कैसे ? इसका अभिप्राय यह है कि राम और सीता वस्तुतः एक ही हैं । दो नहीं ।

आनन्द स्वरूप राम की आह्लादिनी शक्ति सीता और आह्लादिनी सीता के आनन्द राम हैं । ब्रज वासियों में प्रसिद्ध है—

एक स्वरूपा सदा द्वै नाम,

आनन्द की आह्लादिनी श्यामा, आह्लादिनी के आनन्द श्याम ।

जिस प्रकार गंगा जल की शीतलता, मधुरता, पवित्रता गंगाजल से पृथक् नहीं, उसी प्रकार सीता भी राम से पृथक् नहीं । और जैसे 'अग्नि जलाता है' तथा 'लपटें जलाती हैं' दोनों में दाह अथवा ज्वलन क्रिया होती है, किन्तु अग्नि के अतिरिक्त लपट कोई पृथक् पदार्थ नहीं, शब्दभेद है किन्तु तत्त्वभेद नहीं, दोनों में एकात्मकता है, उसी प्रकार राम और सीता का अभेद है । इसी प्रकार राधा—कृष्ण, शिव—पार्वती आदि भी एक ही हैं । अपने स्वरूप सौन्दर्य पर मुग्ध होकर आत्माराम कृष्ण ही राधा रूप से स्व—सौन्दर्य, माधुर्य—रस—सुधा का समास्वादन करते हैं । लोक—विमोहिनी माया से भगवान् सदा ही अलिप्त, असंग रहते हैं ।

भगवान् स्वयं निर्गुण हैं, किन्तु सभी गुण उनका आश्रय लेकर स्वयं को सार्थक करते हैं, क्योंकि गुणों का आश्रय निर्गुण ही हो सकता है तथा उसी से गुणों की गुणता आती है । जब भगवान् श्रीराम की बारात चली तब उनके सामने बहुत से शुभ शकुन हुए वहाँ श्रीगोस्वामी जी कहते हैं —

जनु सब साँचे होन हित, भये शकुन इक बार ।

शकुनों से बारात की शोभा नहीं हुई, अपितु शकुन ही यह सोचकर उपस्थित हो गये कि यदि इस समय हम अनुपस्थित रहे, तो शकुनों की पंक्ति से हमें बहिर्भूत समझा जायेगा । अतः आतुर होकर एक साथ दौड़—दौड़ कर आ गये ।

इसी प्रकार कौस्तुभादि अलंकारों से भगवान् के श्रीअंग की शोभा नहीं बढ़ती किन्तु उनके श्रीअंग के समाश्रयण से अलंकार ही अलंकृत होते हैं । 'कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थम्' अर्थात् भगवान् का शंख के समान

सुन्दर कण्ठ कौस्तुभमणि को आभूषित करने के लिये हैं । प्रभु का स्वरूप इतना सुन्दर है कि उसकी छाया मात्र मणिस्तम्भों अथवा मणिमय प्रांगण में देखकर वे स्वयं विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं । और बालोचित लीलाएँ करते हैं ।

रूपराशि नृप अजिर बिहारी, नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी ।

भगवान् श्रीकृष्ण की मणिस्तम्भ लीला भी इसका उदाहरण है । कथा है कि एकबार माता यशोदा ने मणिस्तम्भ के निकट दधिमन्थन करके अपने प्रिय पुत्र कृष्ण के लिये सद्य-नवनीत निकालकर एक भाण्ड में रखा और किसी आवश्यक कार्य से अन्यत्र चली गई । इसी बीच कृष्ण ने आकर उस भाण्ड से नवनीत लेने के लिये अपना हाथ बढ़ाया । झुकते समय उनकी दृष्टि मणिस्तम्भ में प्रतिफलित अपने प्रतिबिम्ब पर पड़ गई । उसको कोई अपरिचित बालक समझकर बोले—‘मित्र तुम भी मक्खन ले लो किन्तु मैया से न कहना’ प्रतिबिम्ब क्या कहता, लगे उसकी मनुहार करने । इतने में ही माता यशोदा आ गई और चुप होकर उनकी चेष्टाएँ देखने लगीं । बात करते देख बोलीं—अरे कन्हैया, किस से बात कर रहा है । कृष्ण बोले माँ, यह जो बालक मणि स्तम्भ में छिपा है उसी से बात कर रहा हूँ किन्तु यह तो अपने सौन्दर्य के गर्व में चूर है, मुझसे बात भी नहीं करता । केवल मुँह बनाकर मेरी नकल उतारता है । तू मेरे साथ इसकी मित्रता करा दे । माता यशोदा ने उन्हें वात्सल्य पूरित हृदय से गोद में उठाकर हँसते हुये कहा, मेरे लाल! यह तेरी ही प्रतिच्छवि है । कृष्ण ने कहा मैया मैं इतना सुन्दर हूँ ? यशोदा ने कहा बालक! तुझे इसका क्या पता इसका अनुभव तो मैं ही कर सकती हूँ । ‘मो सम नहिं पुण्य—पुंज बालक हैं तोरे —

भगवान् मणि के समान शुद्ध एवं स्वच्छ अन्तःकरण में ही प्रकट होते हैं । उनको पाने के लिये अन्तःकरण को शुद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है । सन्तवाणी, सन्त-समागम, शास्त्रों का पठन-पाठन और इष्टदेव के ध्यान से अन्तःकरण शुद्ध होता है । शुभ उपदेशों को व्यावहारिक जीवन में उतारने से अतिशीघ्र पात्रता आती है । जब अन्तःकरण की किसी निमित्त

से सत्त्व का उद्रेक हो उठता है और अन्तःकरण विमल हो जाता है तब उस निर्मल अन्तःकरण में सर्व व्यापक सच्चिदानन्द प्रभु का प्रतिबिम्ब उसीप्रकार पड़ता है जैसे स्वच्छ दर्पण में मनुष्य का प्रतिबिम्ब । यों तो समस्त शरीर क्या, कण कण में परमेश्वर व्याप्त हैं । जिस प्रकार सूर्य रश्मियों का आलोक कांच, कुड्य, (भित्ति) जल आदि में समान रहता है फिर भी स्वच्छ कांच और जल ही उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ता है । आनन्द की उपलब्धि का हेतु वही है । परमात्मा कहीं बाहर नहीं, अपने भीतर ही है । उसी का आनन्द सर्वत्र लोक को आनन्दित करता है । किन्तु अज्ञानी जन भ्रम—वश सत्त्वोद्रेक के प्रयोजन के अनुकूल विषयों को सुख साधन मान बैठते हैं । जिस प्रकार एक कुत्ता मांसहीन हड्डी को भूख से व्याकुल होकर चबाता है, चबाते चबाते मसूड़ों के कट जाने पर उसका मुंह लहलुहान हो जाता है, उसी रक्त का वह निरन्तर स्वाद लेता रहता है और समझता है यह इस हड्डी का स्वाद है वस्तुतः वह रक्त हड्डी का नहीं है वह तो सूखी थी, कुत्ता झूठे ही उस रक्तास्वाद को बाहर का, हड्डी का समझता है । उसी भाँति आनन्द अपने भीतर की वस्तु है, बाहर की नहीं । कस्तूरी का मृग अपनी ही सुवास को बाहर की समझकर व्यर्थ ही दौड़ता है । यह उसका भ्रम है । उसने अपनी ओर दृष्टि नहीं डाली । अनुकूल विषयों की सन्निधि से सत्त्वगुण के उद्विक्त हो जाने पर जब बुद्धि निर्मल तथा एकाग्र हो जाती है, तब उसमें परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है और मानव आनन्द या सुख की अनुभूति करता है । इसको यह विषयों से प्राप्त मानता है जब कि वह स्वतः आत्मा का आभास है । वस्तुतः हमारे भीतर का ही आनन्द हमें आनन्दित करता है । हमारी आत्मा पर ब्रह्म का अंश है और सगुण ब्रह्म या ईश्वर भी सच्चिदानन्दघन है । यह रहस्य अधिकारी भक्त गण जानते हैं ।

चिदानन्दयमय देह तुम्हारी, विगत विकार जान अधिकारी ।

भक्त के अतिरिक्त बड़े बड़े देवता भी उनके स्वरूप को—रहस्य को नहीं जान पाते हैं । यहां तक कि भगवान् शंकर की अर्द्धांगिनी भगवती

सती को भी स्वरूप बोध में भ्रम हो गया, राम को सीता के वियोग में प्राकृत मनुष्य सा व्यवहार करते देखकर भगवान् शिव के समझाने पर भी जब नहीं मानीं, तो सीता माता का रूप धारण कर परीक्षा लेने चलीं और लज्जित होकर लौटीं । सगुण को सुलभ और निगुण को दुर्लभ कहा जाता है, किन्तु गोस्वामी जी ने इसका उलटा कहा है, क्योंकि माया मोहित मुनि गण भी उनके सुगम अगम नाना चरित्रों को सुनकर भ्रमित हो उठते हैं । मानस में महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—जगत् एक नाट्यशाला है समस्त जीव नाचने वाले तथा त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश इसके सूत्रधार — नचाने वाले हैं । आपका मर्म (रहस्य) जब इन सूत्रधारों—नचाने वालों के लिये भी दुर्ज्ञेय है तब साधारण जीवों की सामर्थ्य ही क्या है ? किन्तु भक्त भगवान् की कृपा से ही उनके स्वरूप को जान लेता है, शेष लोग तो उनकी लीलाओं का अवलोकन करते करते भूल जाते हैं । यद्यपि भगवान् को देखकर चमत्कृत होते हैं पर पहचानना तो भगवान् की कृपा पर ही निर्भर है । पर जो भी उनको देख लेता था, वह मुग्ध हो उठता था । वे जिस मार्ग से निकल जाते थे, वहाँ के नर नारियों के मन और नेत्रों को खींच लेते थे । उनके दूर चले जाने पर भी कोई अपने मन और नेत्रों को उस ओर से हटाने में समर्थ नहीं होता था । ब्रह्म—ज्ञानी जनक भी राम के रूप को देखकर मुग्ध हो उठे, अपने हृदय और नेत्रों की दशा को देखकर सोचने लगे कि यह प्राकृत बालक नहीं हो सकते क्योंकि मेरा मन सहज विराग रूप है । कृत्रिम वैराग्य प्राकृत रूप को देखकर फिसल सकता है, अकृत्रिम नहीं । भगवान् रूप में यही विलक्षणता है कि संसार का रूप केवल रागी को आकृष्ट करता है विरागी को नहीं किन्तु भगवान्—सा रूप रागी, विरागी दोनों को मुग्ध कर देता है । राजर्षि जनक का वैराग्य साधु सभा की कसौटी पर कसा जा चुका था । एक बार कोई महात्मा जी जनकपुर पहुँचे, जनक जी उनकी कथा सुनने जाने लगे । महात्मा जब तक जनक जी नहीं आ जाते थे तब तक कथा प्रारम्भ नहीं करते थे । साथ के साधु शिष्यों के मन में यह भावना आई कि गुरुदेव किसी छिपे स्वार्थ के कारण राजा का सम्मान कर रहे हैं । महात्मा जी को उनके मन

की बात विदित हो गई । उन्होंने माया फैलाई सत्संग के समय एक राजकर्मचारी दौड़ता आया और कहने लगा कि नगर में शत्रु आ गये हैं, किन्तु जनक डिगे नहीं। पुनः थोड़ी देर में समाचार मिला की नगर में आग लगा दी गयी है लपटें देखकर सब चिन्तित हुये और दौड़े किन्तु जनक बैठे-बैठे कहने लगे—

मिथिलायां दह्यमानायां न मेऽदह्यत किंचन ।

अर्थात् मिथिला के जलने पर भी मेरा कुछ भी नहीं जला किन्तु जब आग की लपटें उन साधुओं की पर्णकुटी की ओर बढ़ने लगी तो वे अपना सर्वस्व कौपीन कमण्डलु बचाने के लिये सत्संग छोड़कर दौड़ पड़े । उन महात्मा ने माया समेट कर बताया कि अभी तुम्हारा वैराग्य कच्चा है । दृढ़ वैराग्य ही ब्रह्मज्ञान में सहायक होता है । अतएव जनक ही ब्रह्मज्ञान के पात्र हैं उनकी पात्रता के कारण ही हम रुककर उनकी प्रतीक्षा करते थे, स्वार्थवश नहीं ।

जनक जी एक विरक्त गृहस्थ थे, जो कमलपत्रवत् संसार से निर्लिप्त रहते थे । गृहस्थाश्रम में रहना दोष नहीं, आसक्त होना दोष है । नाव का जल में रहना दोष नहीं, जल का नाव में आना दोष है ।

शुकदेव जी को ब्रह्म जिज्ञासा होने पर ब्रह्मसूत्रों के प्रणेता व्यास जी ने स्वयं उपदेश करने में समर्थ होते हुये भी उनको जनक के पास भेजा । अपने पास नहीं रखा, क्योंकि वे यह जानते थे कि ममत्वपूर्ण हृदय से अहन्ता ममता का नाशक निरपेक्ष उपदेश नहीं दिया जा सकता है । शुकदेव जी मिथिला पहुँचे । जनक जी ने जिज्ञासु की परीक्षा लेनी चाही । उन्होंने शुकदेव जी को सात सात दिनों तक निरन्तर खड़े तथा बैठे रहने की आज्ञा दिलाई और वह वैसा ही करते रह गये । फिर सुन्दरियों द्वारा सेवा कराई, किन्तु वहाँ भी निर्लिप्त रहे । अन्त में जनक जी ने क्षमा याचना पूर्वक उनको उपदेश दिया । उनके मन में किसी प्रकार का क्रोध, द्वेष और प्रसन्नता का भाव नहीं था । यही ब्रह्मज्ञानी का रूप है ।

एक बार नारद जी को भी जनक की विदेहता पर शंका हुई । उन्होंने उनसे गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी निर्लिप्त रहने का प्रकार पूछा । जनक

जी ने उनके हाथ में तैलपूर्ण जलता दीपक देकर नगर देख आने को कहा। नारद जी सदा चलते हुये दीपक पर ही ध्यान लगाये रहे कि कहीं बुझ न जाये। लौटकर आने पर जनक जी ने पूछा,—‘महाराज ! नगर कैसा लगा ? क्या क्या देखा ? उन्होंने बतलाया उनका ध्यान केवल दीपक की ओर था, नगर नहीं देख सके। पुनः उनको साथ लेकर जनक जी भोजन करने गये। नारद की भोजन करते समय ही दृष्टि ऊपर गई तो देखा कि बाल बराबर सूक्ष्म तन्तु से बंधा हुआ एक बृहत् पाषाण सिर के ऊपर लटक रहा है। ज्यों त्यों भोजन किया और उठ खड़े हुये, आगे जनक जी ने भोजन के स्वाद के विषय में पूछा — कहिये महाराज, भोजन कैसा था ? महाराज क्या कहते, बताया कि मारे डर के कि पत्थर सिर पर गिर न पड़े, किसी तरह पेट भर लिया, किन्तु स्वाद क्या बताऊँ ? फिर जनक जी ने उत्तर दिया कि जो व्यक्ति सम्पूर्ण संसार में भ्रमण करता हुआ भी अपने स्वरूप को सदा ध्यान में रखता है, उसे कभी भूलता नहीं, जो सिर पर मौत के मंडराने पर भी भयभीत नहीं होता, वही विदेह है। ऐसे जनक जी भी विदेह हैं। ऐसे जनक जी भी अद्भुत लीला धाम राम को देखकर आत्म विस्मृत हो गये और महर्षि विश्वामित्र से पूछने लगे कि नाथ, यह दो सुन्दर बालक कौन हैं ? इनको देखकर मेरा हृदय अत्यन्त अनुरक्त हो रहा है। ब्रह्मानन्द रसास्वाद को वरवस छोड़कर इन्हीं का दर्शन कर रहा है, निगमों के द्वारा नेति नेति कहकर निरूपित ब्रह्म ही तो इन दो रूपों में प्रकट होकर नहीं आ गया ? यद्यपि मेरा मन सहज विराग रूप है तथापि जैसे चन्द्र की ज्योत्सना चकोर को आत्मविभोर कर देती है वैसे ही इस मन की दशा हो गई है। महर्षि विश्वामित्र ने यह कहकर राम का परिचय देना चाहा कि यह केवल आपके ही नहीं सर्वान्तरात्मा होने के कारण निखिल प्राणियों के ऊपर प्रेमास्पद हैं, किन्तु उसी समय भगवान् राम ने मुस्कुराकर उनकी बुद्धि को बदल दिया। भगवान् का हास ही माया है— **‘माया हास बाहु दिगपाला’** बात पलटकर कहने लगे की ये रघुकुल मणि दशरथ के पुत्र हैं। राजा ने मेरे हित के लिये इन्हें मेरे साथ कर दिया है।

इसी प्रकार के तत्त्ववेत्ता हनुमान जी थे । ऋष्यमूक पर्वत के निकट श्रीराम को आते देखकर जब सुग्रीव ने उन्हें परिचय लेने भेजा, राम को देखते ही हनुमान पूछ बैठे— “की तुम अखिल भुवन पति, लीन्ह मनुज अवतार’ राम समझ गये । उन्होंने अपना परिचय दशरथ सुत के रूप में दिया । श्रीहनुमान् जी स्वयं को विप्र वेश में छिपाकर भगवान् के वास्तविक स्वरूप का परिचय लेना चाहते थे, अपने स्वरूप को निरावृत किये बिना भगवान् का स्वरूप कैसे निरावृत होता, अतः हनुमान् द्वारा अपना रूप छिपाने पर प्रभु ने भी अपना वास्तविक रूप छिपाया । जो भक्त बिना छल द्युद्ध के प्रभु के समक्ष जाता है । उसके समक्ष प्रभु भी वास्तविक रूप में प्रगट होते हैं । और कपटी के समक्ष अस्पष्ट रूप में । अन्त में जब हनुमान् जी ने छद्मरूप का त्यागकर दिया और भगवान् के चरणों में पड़ गये —“निज तनु प्रगट प्रीति उर छाई” तब भगवान् ने उनको उठाकर हृदय से लगा लिया और लक्ष्मण सा प्रिय कहकर उन्हें सान्त्वना दी ।

भगवान् का स्वरूप और सौन्दर्य विलक्षण है । जिसने दर्शन कर लिया, अनुभव कर लिया उसके नेत्र सफल हो गये, जीवन सफल हो गया

ऐसा ही प्राणी संसार में आकर वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति करता है।

पंचम प्रसून

जिसका हृदय भगवद्भक्ति से पूर्ण है, जो भक्त है, उसी का जीवन सफल है, क्योंकि भक्ति में ही जीवन की सफलता है। जो भगवान् से दूर है, उनसे विमुख है, प्रभु के सम्मुख नहीं है, उनको दुःख, अशान्ति, और भय बना रहता है। विश्व में प्राणी प्रतिक्षण एक अदृष्ट भय की आशंका से पीड़ित रहता है। चाहे एकान्त हो, चाहे जन-समुदाय, सर्वत्र ही यह भय उनके मन में बना रहता है, यद्यपि वह दुःख के कारणों को देखता नहीं, वह बिना देखे ही भयानक वस्तु की सत्ता स्वीकार करता है और प्रतिक्षण अपने प्रियजनों के अहित की अनन्त आशंकाएँ किया करता है। इस भय का एकमात्र कारण है दूसरे की सत्ता को स्वीकार करना, दूसरे के अस्तित्व को मान्यता देना। श्रुति कहती है “अथ तस्य भयं भवति, द्वितीयाद्वै भयं भवति” अर्थात्—जो द्वैत दर्शी है उसे भय होता है। सांख्य तथा वेदान्त में इस द्वैत को लेकर मतभेद है, यद्यपि दोनों का चरम लक्ष्य विचार करने पर द्वितीय की निवृत्ति ही है। सांख्य शास्त्र में दो चरम तत्त्वों की स्वतंत्र तथा पृथक् स्थिति स्वीकार की गई है। उसमें प्रकृति और पुरुष जड़ और चेतन रूपों में पार्यन्तिक स्थिति वाले माने गए हैं। इस दर्शन के अनुसार द्वितीय रहता तो है किन्तु उसका प्रभाव दूसरे पर नहीं पड़ता। चेतन अपने को पुष्कर पलाशवत्—कमल के पत्ते की भाँति निर्लिप्त रखता है और प्रकृति कृतार्थ के प्रति नष्ट होने पर भी अनष्ट ही रहती है। ऐसा पुरुष जो अपने केवल स्वरूप को जानता है, प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होता है, केवली कहा जाता है। यही मुक्तावस्था है। इस मुक्त को ही हंस कहते हैं। हंस है कौन? वह जो नीर क्षीर का विवेचन करने में समर्थ हो। जो केवल क्षीर का—शुद्धता का ही संचय करे—ग्रहण

करे । अतः इसके अनुसार प्रकृति रूपी नीर को पृथक् कर पुरुष रूपी क्षीर का अपना लेने से ही विवेकी मुक्त हो जाता है, उसका कल्याण हो जाता है । स्पष्ट है कि यहाँ प्रकृति को पृथक् अवश्य कर दिया गया, किन्तु उसकी सत्ता अभी बनी ही है ।

जीव ने अपने को पहचाना और प्रकृति से पृथक् कर लिया । वेदान्त दूसरे की सत्ता स्वीकार ही नहीं करता । द्वितीय की सत्ता स्वीकार करने पर भय कभी भी हो सकता है । सांख्य त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीनों गुणों की सत्ता स्वीकार करता है । एक गुण का उद्रेक होने पर दूसरे गुण नष्ट नहीं होते अपितु तिरोहित हो जाते हैं । वही अवसर पाकर, अस्तित्व रहने के कारण, भविष्य में कभी न कभी दुर्बल अथवा हारे हुए शत्रु, या दबे हुए रोग या अग्नि की भाँति प्रबल होकर कष्ट भी दे सकते हैं । इसीलिए वेदान्त द्वितीय को अस्तित्वहीन ही कर देने का पक्षपाती है । तभी अभय, सुख और शान्ति संभव हो सकते हैं । द्वैत का भाव ही कष्ट कारक है, सत्ता की तो बात ही क्या ?

सूक्ष्म से सूक्ष्म भी द्वैत की प्रतीति दुःखदायी होती है । इसका स्पष्ट अनुभव स्थूल दृष्टि और बुद्धि वाले सांसारिक लोगों को नहीं होता, किन्तु योगियों को होता है । योगी का चित्त अक्षिपात्र (नेत्र गोलक) सदृश होता है । जिस प्रकार शरीर के अत्यन्त कोमल अंग आँखों में बहुत सूक्ष्म तिनका या मकड़ी का जाला भी पड़ जाने पर निरन्तर कष्ट देता रहता है, कोमल नेत्रों में पीड़ा होती रहती है, बाहरी तत्त्व को बिना निकाले चैन नहीं पड़ती, उसी प्रकार योगियों के अत्यन्त समाहित चित्त में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भिन्न पदार्थ भाव मात्र से महाकष्ट होने लगता है । अतः उनके अनुसार द्वैत का भाव समाप्त ही हो जाना चाहिये, द्वैत के अज्ञात अस्तित्व का भी नाश आवश्यक है । संवेदन—शील पुरुष को थोड़ा दुःख भी असह्य हो जाता है । हम देखते हैं पीठ पर पड़ा हुआ डंडा भी उतना दुःखद नहीं होता, जितना आँख में पड़ा हुआ अतिसूक्ष्म तिनका हो जाता है ।

पूछा जा सकता है कि यह द्वैत नाम की वस्तु क्यों प्रतीत होती है ? उत्तर है, अपने को भूल जाने से । जिस प्रकार घर के सामने से चले

जा रहे जुलूस को देखते समय व्यक्ति अपने को भूल जाता है, उसको यह सुधि नहीं रहती कि मैं कौन हूँ ? कहाँ हूँ ? उसी प्रकार जीव अपने से भिन्न पदार्थ को देखत-देखते उसको अधिक आकर्षक और सुन्दर समझकर उसी को मान्यता और प्रधानता देने लग जाता है ।

आत्मा-परमात्मा के अत्यन्त सौन्दर्य को छोड़कर विश्व के नश्वर स्वरूप पर मुग्ध होना, आत्मा के अतिरिक्त जगत् और जागतिक प्रपंचों को स्वीकार करना, इनका पृथक् अस्तित्व मानना ही द्वैत है । अतः जब तक जीव अपने को भूला है, तब तक सारे सुखों से दूर है ।

अपने को न पहचानने तक ही जगत् की सत्ता है । जैसे प्रकाश लाने से वास्तविकता का ज्ञान होने पर रस्सी, रस्सी प्रतीत होने लगती है तथा इससे भिन्न स्थापित की गई सर्प की काल्पनिक तथा भ्रम जनक सत्ता समाप्त हो जाती है, अथवा जैसे दृष्टि दोष होने पर दो चन्द्रमा दिखाई पड़ने लगते हैं, उसी प्रकार परमात्म-दर्शन के पश्चात् एक ही सत्ता प्रतीत होती है । भ्रान्त-दृष्टि दूर होते ही एक आत्मा के अतिरिक्त और किसी का भी अस्तित्व नहीं रहता ।

छाया-दर्शन की भाँति ही स्वप्न दर्शन भी है । स्वप्न में मनुष्य न जाने क्या क्या देखता है, न जाने क्या-क्या करता प्रतीत होता है, किन्तु निद्रा भंग होते ही सब विलीन हो जाता है, यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कुछ भी स्वप्न में प्रतीत होता था, सब मनःकल्पित ही था । इसी प्रकार यह सारा जगत् भी मन का ही प्रपंच है । मन के चंचल होने पर भी द्वैत का भान होता है, स्थिर होने पर नहीं । सुषुप्ति और समाधि में किसी को भेद का दर्शन नहीं होता । जिस प्रकार स्वप्न की सत्ता भ्रम से भासित होती है, जागने पर उसका अन्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान हो जाने से सारा द्वैत भाव समाप्त हो जाता है क्योंकि स्वप्न के ही समान यह जागृत प्रपंच भी भ्रम मूलक है । आत्म साक्षात्कार होने पर इसका बाध हो जाता है । इस प्रकार द्वैत का सर्वथा अभाव हो जाने पर प्राणी निर्भय होता है । अभय होना ही मुक्ति है । एक बार मुक्त हो जाने पर वह फिर से नहीं बँधता । वह संसार में रहता है किन्तु उसमें संसार नहीं रहता । ज्ञान

होने पर अज्ञान का नाश अनिवार्य है । कुछ लोगों का कथन है कि ज्ञानी भी अज्ञानी हो जाता है । किन्तु यह बात ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले साधकों पर भी लागू होती है । सम्यक् प्रबुद्ध पर नहीं । मार्ग चलते चलते लोग भटक सकते हैं किन्तु गन्तव्य पर पहुँच जाने पर भटकने का भय नहीं रहता । भले ही चन्द्रमा से अमृत के स्थान पर विष बरसे, बर्फ से अग्नि प्रगट हो, मछली जल से विरक्त हो जाये, पर जिस जीव ने वस्तुतः राम को पा लिया है वह राम से विमुख नहीं हो सकता । ज्ञान होने पर अज्ञान नष्ट हो ही जाता है ।

इसका कारण भगवती श्रुति बतलाती हैं । ईशोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

जिस ज्ञान की अवस्था में ज्ञानी के लिए समस्त भूत आत्मा ही हो जाते हैं, तथा जो सर्वत्र एकत्व का ही दर्शन करता है, उस समय उसको मोह कहाँ, शोक कहाँ ? यह बात दैनिक व्यवहार में भी देखी जाती है । अपने से किसको भय होता है ? किसी को भी नहीं । 'सब मैं हूँ' सब मुझमें है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व पुरुषोत्तम मय है, वही सर्वत्र व्याप्त है, पुरुषोत्तम अर्थात् उत्तम पुरुष 'मैं' ही सब कुछ है, ऐसा ज्ञान वाला सदा निर्भय, निर्मम, निरहंकार रहता है ।

सर्वत्र परमात्म दर्शन का मूल है अपने को न भूलना । जो अपने को भूलकर सोता है, वही स्वप्न देखता है । जो नहीं भूलता अर्थात् जाग्रत है, वह क्या स्वप्न देखेगा । भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन को विस्मृत स्वरूप की स्मृति ही तो कराई थी । तभी तो वह बोले थे —

“नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत”

अर्थात् मेरा मोह नष्ट हुआ, आत्म स्मृति मिली, आपकी कृपा से प्रभो ! जो भगवान् के सम्मुख है उसे आत्म-स्मृति हो ही जाती है, माया नहीं सताती । जो विमुख है, उन्हें और भी भ्रमित करती है ।

माया जीव को इसलिये सताती है कि जीव भगवान् की शरण में जाएं

ही । माया की भाँति मृत्यु भी भगवद्-विमुख प्राणी के पीछे लग जाती है । जीव जिस योनि में जाता है वह उसके साथ जन्म लेती है, बढ़ती है और अन्ततः उसको खा जाती है । किन्तु यहीं से मौत से पीछा नहीं छूटता । फिर जन्म मिलता है, फिर मरण होता है और यह चौरासी लाख योनियों में जन्म मरण का चक्र उस समय तक चलता ही रहता है जब तक वह भगवद्भिमुख नहीं हो जाता । यह नियम है कि जो केन्द्र में विद्यमान होता है अथवा केन्द्र बिन्दु के अपेक्षाकृत निकट रहता है, उसका चक्कर भी दूर वालों की अपेक्षा कम ही होता है । उसे अधिक नहीं भटकना पड़ता जो भगवान् के जितना ही निकट है, उतना ही उसे चक्कर से छुट्टी रहती है । जीव को चौरासी के चक्र से मुक्ति पाने का अवसर मानव शरीर में ही मिलता है, यही साधन धाम और मोक्ष का द्वार है । इसे देव दुर्लभ माना गया है । किन्तु इन विशेषताओं के साथ-साथ यह क्षणभंगुर भी है अतः इस मानव जीवन का सदुपयोग करने के लिये तत्क्षण तैयार हो जाना चाहिये । भगवान् शंकराचार्य ने आठ ही वर्ष की आयु में माता से आज्ञा लेकर वैराग्य धारण किया । उनको सन्न्यास की आज्ञा कठिनाई से मिली । माता ने कहा विवाह करके पुत्र उत्पन्न करो । वृद्धावस्था में सन्न्यास ले लेना किन्तु उन्होंने कहा—

कति नाम सुताः न लालिताः कति वा नैव बधूरभुंजीहि ।

क्वनु वे क्वनु ताः क्वच वा वयं भवसंगः खलु पान्थ संगमः । ।

न जाने कितने पुत्र हमने खिलाये, न जाने कितनी वधुओं का पाणि-ग्रहण किया, किन्तु न जाने कहाँ वे पुत्र हैं, न जाने कहाँ वे रमणियाँ हैं, और न जाने कहाँ हम । जननमरणाविच्छेदलक्षणा संसृति से मुक्ति पाने के लिए हमें सन्न्यास लेने की आज्ञा दे दीजिये । जब माता ने ममतावश सन्न्यास की आज्ञा नहीं दी तब श्रीशंकराचार्य ने एक माया रची । वे एक दिन अपनी माता के साथ जब नदी में स्नान कर रहे थे, उसी समय उनको एक भयंकर मगर ने पकड़ा, माता उनको छुड़ाने में असमर्थ होकर चिल्लाने लगीं । भगवान् शंकराचार्य ने कहा कि यदि कोई वस्तु नष्ट होने लगे तो उनको कृष्णार्पण कर देने से पुण्य होता है । तुम भी मुझे सन्न्यास

की आज्ञा देकर कृष्णार्पण कर दो तो सम्भव है मैं छूट जाऊँ । विवश होकर माता को आज्ञा देनी पड़ी ।

सन्न्यास निवृत्ति पथ का उपलक्षण है अपने सर्वस्व का भगवान् के श्रीचरणों में पूर्ण समर्पण ही सामान्य गृहस्थों का सन्न्यास है । भगवान् को सर्वस्व समर्पित करने पर जीवन अत्यन्त हल्का भारहीन हो जाता है । फिर तो सारा दायित्व परमेश्वर का हो जाता है । जीवों की भगवद् विमुखता और प्रमाद को दूर करने के लिये ही मृत्यु उनका पीछा करती है । किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि फिर भी लोग अपने को अजर अमर समझते हैं, प्रमाद नहीं छोड़ते । जिनको मृत्यु से डर है अर्थात् जो उससे छुटकारा पाना चाहते हैं, वे भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं तथा उनकी खोज करते हैं । मृत्यु का भय संत पुरुष को विषयों से विरक्त बना देता है । विरक्त पुरुष ही प्रभु की ओर उन्मुख हो जाता है । एक बार कोई उच्चकोटि के महात्मा एक नगर में आये । वहाँ के राजा ने उनका प्रभाव देखकर उनका स्वागत किया, सिंहासन पर बैठाकर पूजा की, नगर के बाहर किसी बगीचे में ठहराया । राजा की श्रद्धा भक्ति देखकर महात्मा कुछ दिन वहीं रुक गये । एक दिन राजा ने उनसे पूछा — भगवन्! क्या कारण है कि आप हम लोगों के समान वैभव में रहकर प्रमाद रहित होकर भी भजन में ही लगे रहते हैं । वासनाएं आपके हृदय को कलुषित नहीं करती । महात्मा ने उनसे कारागार देखने की इच्छा प्रगट की । राजा उन्हें कारागार दिखाने ले गये । महात्मा एक फाँसी के कैदी के सामने खड़े हो गये, पूछने पर पता लगा कि कल ही इसको फाँसी दी जायेगी । महात्मा ने कहा कुछ संसार का भोग कर लो, उसने उत्तर दिया — महाराज मुझे तो सिवा मृत्यु के कुछ दीखता ही नहीं, क्या भोग करूँ ? लौटने पर महात्माजी ने कहा इसके समान हम भी सदा मृत्यु को सदा सन्निहित देखते हैं । इस कारण हमारे मन में किसी भी पदार्थ में आसक्ति नहीं होती । यही संत जीवन है । मृत्यु को देखकर अनन्त के चरणों की ओर प्रस्थान करना ही मानव का धर्म है । स्वर्ग प्राप्ति भी एकान्तिक सुख नहीं दे सकती । स्वर्गीय जीव भी पुण्य क्षय हो जाने पर वहाँ से गिरा दिया

जाता है । वास्तविक सुख और शान्ति तो प्रभु के चरणों में ही है ।
श्रीमद्भागवत में एक श्लोक है —

जन्तुर्मृत्यु व्यालभीतः पलायन् सर्वान् लोकात्रिर्भयं नाध्यगच्छत् ।

त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदुच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥

अर्थात्—जीव मृत्यु रूपी सर्प से भयभीत होकर समस्त लोकों में भागता फिरता है, किन्तु उसे कहीं भी अभय की प्राप्ति नहीं होती । जब वह थक कर अन्त में आपके चरणों की शरण में आया तभी सुख पूर्वक सोया । मृत्यु ने उसका पीछा छोड़ दिया । दुःखों से जीव को घबराना नहीं चाहिये । दुःख तो जीव को अपराधों और त्रुटियों से शुद्ध करने के लिये है । जो भगवान् की उपेक्षा करता है भगवान् उसे कठिन से कठिन दुःख का दण्ड इसलिये देते हैं कि जिससे वह उनकी ओर यथाशीघ्र उन्मुख होवे । जयन्तोपाख्यान इस विषय का निदर्शन है—देवराज इन्द्र के पुत्र ने एक बार काक रूप में आकर भगवान् का बल देखने की ठानी । वह जानता था कि भगवान् राम आत्मवान् हैं, अपने अपराध से उन्हें रोषावेश नहीं होता, किन्तु भक्त का अपराध करने पर वे अत्यन्त रोषाविष्ट हो जाते हैं । रोष में बल प्रदर्शन सम्भव समझकर, उसने दो भक्तों, लक्ष्मण और सीता में से लक्ष्मण का निरादर न करके सीताजी का निरादर किया । लक्ष्मणजी उस समय नहीं थे, होने पर भी वह उनको न छेड़ता क्योंकि वे स्वयं दण्ड देने में समर्थ थे । स्वयं दण्डित कर देते । श्रीरघुनाथ जी के बल प्रयोग की आवश्यकता न पड़ती । अतएव यह सब सोच समझकर उसने श्रीसीताजी के ऊपर चरण और चोंच का प्रहार किया । भगवान् श्रीराम उस समय श्रीजानकी जी की गोद में मस्तक रखकर शयन कर रहे थे । अपने अंग में रक्त बिन्दु गिरने पर उसका स्पर्श पाकर वे उठे और जयन्त को तृणवत् समझकर तृण का धनुष बनाया और तृण का ही बाण उसमें रखकर ब्रह्मास्त्र से उसको अभिमन्त्रित करके जयन्त के पीछे छोड़ दिया । जयन्त अपने काक स्वभाव के अनुसार पास ही बैठा देख रहा था । प्रज्वलित अग्नि के समान बाण को अपनी ओर आते देखकर वह भागा । ब्रह्मलोक, सुरपुर आदि सभी लोकों में भागता फिरा किन्तु उसे कहीं शरण

न मिली। भगवान् का बाण जहाँ भी जयन्त गया पीछे ही लगा रहा। जयन्त और बाण में केवल दो अंगुल का अन्तर रहता था। व्याकुल अवस्था में भागते हुये जयन्त को देखकर नारद जी को दया आ गई। भगवान् की अनुग्रह शक्ति सन्तों के ही रूप में कार्य करती है। पूछने पर जयन्त ने अपना अपराध सुनाया और बोला कि मुझे कहीं भी शरण नहीं मिल रही है। नारद जी ने कहा तुम भगवान् राम की शरण जाओ। जयन्त ने कहा उन्होंने ही तो क्रुद्ध होकर मेरे ऊपर बाण छोड़ा है, समीप जाने पर तो मेरे प्राण बचेंगे ही नहीं। नारद जी ने समझाया निश्चित रहो उनका स्वभाव तो करुणामय है, दयामय है। यदि उन्हें मारना ही होता तो मार डालते। इसे तो उन्होंने तुम्हारे कल्याण के लिये छोड़ा है। जयन्त ने कहा कि अपने अपराध का स्मरण करके उनके सामने जाने का साहस नहीं होता। मुझे नहीं सूझ रहा है कि उनके पास जाकर क्या कहूँगा। देवर्षि ने बताया कि तुम प्रभु के सम्मुख जाकर बोलना प्रभो, मैंने आपका प्रभाव तो देख लिया अब स्वभाव देखने आया हूँ। कुछ आश्वस्त होकर जयन्त गया पर दुष्ट स्वाभाव के कारण भगवान् के सम्मुख न हो सका, उनकी ओर पूँछ करके खड़ा हो गया। उस समय प्रभु अन्यमनस्क थे। कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला जगज्जनी माता सीता की दृष्टि उस पर पड़ी। उसकी दीन दशा देखकर उनके हृदय का कारुण्य उद्बलित हो उठा। तुरन्त उसका सिर घुमाकर भगवान् के सम्मुख कर दिया। अब प्रभु का ध्यान उस ओर गया उन्हें भी जयन्त की आर्त वाणी सुनकर दया आ गई। मातृद्रोही बर्धार्ह जयन्त को एक नयन बनाकर अपने अमोघ बाण को चरितार्थ कर दिया। मानो आत्मा के ही समान सब के सुख-दुःख को देखने की शिक्षा दे दी। एकाक्ष बनाकर भी क्रमशः दोनों नेत्र गोलकों में पुतली ले जाकर देखने की क्षमता प्रदान कर दी। विचार करके देखा जाये तो जीव मात्र जयन्त है। हम सब भी एक क्षण में ही विषय का अनुभव कर सकते हैं। युगपत् अनेक ज्ञानों का उदय नहीं होता। कुछ लोग कहते हैं कि हम एक साथ आकाश के अनेक तारे देखते हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यहाँ भी क्रम ही उपलब्ध होता

है । जयन्त के पीछे ब्रह्मास्त्र लगा था तो जीव के पीछे मृत्यु लगी है । जीव ने भी भगवती भास्वती ब्रह्म-विद्या का अनादर किया है । अन्तर्मुख होकर भगवत्साक्षात्कार करने पर ही कर्म-बन्धन रूप मृत्यु से इसको छुटकारा मिल सकता है । ब्रह्मास्त्र और जयन्त के बीच दो अंगुल की दूरी से द्वैत के साथ भय का साहचर्य सूचित होता है । किन्तु यह भगवान् की लीला है इसका उद्देश्य दण्ड न होकर अनुग्रह ही है । ब्रह्मास्त्र के ही माया और मृत्यु जीव को अन्ततः प्रभु के चरणों तक पहुँचा देती है । जीव के भगवत्-सम्मुख होते ही माया लज्जित होकर भाग खड़ी होती है, मृत्यु भी दूर हट जाती है । गुणदर्शन से प्रीति और दोष दर्शन से विरक्ति होती है, अतः जीव को चाहिए कि वह भगवान् के गुणों का स्मरण चिन्तन करे और विषयों में दोष दृष्टि करे । इसमें भगवत्प्रेम जागेगा और चरित्र श्रवण में आनन्द की उपलब्धि भी होगी । चरित चाहे भक्त का हो या भगवान् का, दोनों एक ही हैं, क्योंकि जिस प्रकार गन्धक पारद से मिलकर एक हो जाता है उसी प्रकार भक्त का हृदय भी भगवन्मय हो जाता है । भक्त का स्मरण होने पर भगवान् का स्मरण अनायास हो जाता है । इसलिये जीव को चाहिये कि वह उन्हीं उपायों से अपना कल्याण करे ।

महाप्रभु के सम्मुख होने से अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है और प्रभु के सम्मुख होने के लिये ही उनकी कथा सुनी जाती है, उनके चरितामृत का अतृप्तभाव से पान किया जाता है । ऐसा करने से वह हमारे समक्ष अतिनिकट ही प्रकट हो जाते हैं । वस्तुतः वह हमारे इतने निकट हैं कि उनको निकट कहना भी दूर करना है । हमारी असमर्थता से वह अत्यन्त निकट रहने पर भी देखे नहीं जा सकते । बहुत निकट की भी वस्तु स्वतः देखी नहीं जा सकती । आँख सबको देखती है, किन्तु अतिनिकट ही लगा हुआ आँखों का काजल सीधे-सीधे उनसे नहीं देखा जा सकता । आँख अपने को भी अन्य अंगों की भाँति नहीं देख सकती । इसके लिये दर्पण, जल आदि सदृश माध्यमों की आवश्यकता होती है ।

अपने अतिनिकट, यहाँ तक की अन्तरतम हृदय में विद्यमान रहने पर भी वह दृष्टिगत नहीं होते बिना माध्यम के । उनको देखने का माध्यम है मनोमुकुर अर्थात् मन का दर्पण । जिस प्रकार अन्धेरे में अथवा रजःकण, धूलि आदि से धूसरित दर्पण में प्रतिबिम्ब नहीं देखा जा सकता, यह कार्य प्रकाश में शुद्ध निर्मल दर्पण में सम्भव है, उसी प्रकार प्रभु के दर्शन हेतु मन को तामस तथा राजस भावों से पृथक् रखकर सात्विक प्रकाश से आप्लावित करना होगा । जिनका मनोमुकुर मलिन हो गया है तथा नेत्रों पर माया का पर्दा पड़ गया है उनको भला राम का-प्रभु का दर्शन कैसे हो सकता है —

मुकुर मलिन अरु नहन विहीना, रामरूप देखिहिं किमि दीना ।

विज्ञान दर्पण और मुकुर में अन्तर बतलाते हैं, दर्पण काँच का होता है और मुकुर स्वच्छ सुचिक्कण लोहे का यदि उसमें जरा सी भी जंग लग

जाती है तो फिर मुख स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता । भगवान् भी मनोमुकुर होने पर उसमें नहीं दिखते ।

मन की मलिनता प्रभु के विमल यशोवर्णन रूपी वारि से धोई जा सकती है । यही सरलतम उपाय है । जो इस जल से अपने मानस को नहीं धोता वह कलिकाल के गाल में समा जाता है तथा प्रभु के दर्शनों से वंचित रह जाता है । सर्वप्रथम प्रभु-प्राप्ति के पवित्र मार्ग पर पग रखते ही जीव को निराशा होती है । मन में तर्क विर्तक उत्पन्न होते हैं, किन्तु दृढ़ता पूर्वक प्रभु के करुणा, दया, मुदिता, पतितपावनता आदि गुणों का स्मरण करते हुये बढ़ने पर वे अवश्य शरण में ले लेते हैं । विभीषण की यही दशा है । वे जाने में संकोच का अनुभव करते हैं । हनुमान जी उनको उस मार्ग पर प्रेरित करते हैं, प्रभु के स्वभाव का स्मरण दिलाते हैं, वह अपने ही कुल तथा जाति का उदाहरण देकर उनके मन में दृढ़ विश्वास उत्पन्न करते हैं । जाति वानरों की जो पशु योनियों में है और कर्म चंचलता के, फिर भी प्रभु ने शरण में ले ही लिया ।

विभीषण को हनुमान् जी के वचनों से सान्त्वना मिलती है । विश्वास जगता है । भगवान् राम ने भी यह बिना सोचे कि विभीषण रावण सदृश शत्रु का भाई है, कपटाचरण भी हो सकता है आदि, शरणागत को शरण दी । सच में देरी भक्त की ही ओर से होती है, भगवान् का द्वार तो सर्वदा सभी के लिये खुला ही रहता है । संसार में कुछ लोगों में केवल बाह्य सौन्दर्य रहता है, आन्तर नहीं, और कुछ ऐसे होते हैं जिनका हृदय (अन्तर) सुन्दर होता है, बाह्य नहीं । अर्थात् कुछ शारीरिक सौन्दर्य के धनी होते हैं तो कुछ अपने शील स्वभाव की सम्पत्ति के, किन्तु प्रभु के अन्तर बाहर दोनों ही अत्यन्त सुन्दर तथा मधुर हैं । संसार में प्रव्रजित, वीतराग, श्रीशुकदेव जी को भगवान् श्रीकृष्ण के गुण गण ही आकृष्ट कर सके ।

प्रथम भगवान् के सौन्दर्य ने उनको मुग्ध किया किन्तु साथ में इस शंका से उनको नैराश्य भी हुआ कि वे मुझे अपनायेंगे या नहीं । अन्त में जब प्रभु के द्वारा स्तन-काल-कूटा राक्षसी रुधिराशना पूतना को भी स्तन-पान करने के कारण माता के योग्य सदगति मिलने के स्मरण से

उनकी अनुपम दयालुता शुकदेव जी के हृदय पटल पर उपस्थित हुई, तब वे आश्वस्त हुये ।

राम और कृष्ण दोनों एक हैं । दोनों ही सौन्दर्य सौशिल्य आदि गुण-गणों के निधान हैं । दोनों ही प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, सेवकों की सेवा से और उनको मन चाहा फल भी देते हैं ।

राम का सुशील स्वभाव प्रशंसनीय है । वे अपने सहायक वानरों को कार्य समाप्ति पर भी भूलते नहीं । उनको सम्मान सहित अपने विमान पर बैठाकर अयोध्या लाते हैं । अपने गुरुदेव वशिष्ठ को प्रणाम करने की शिक्षा देते हैं और गुरुदेव से परिचय देते हुए कहते हैं—

ये सब सखा सुनहुँ मुनि मेरे, भये समर सागर कहूँ बेरे ।

मम हित लागि जनम इन हारे, भरतहुँ ते मोहि अधिक पियारे ॥

सामान्य जन तो कृतज्ञ बनते ही नहीं, सुखी दिनों का साहचर्य भी सुख में—काम सध जाने पर भूल जाते हैं । द्रुपद अपने गुरुभाई द्रोण को राजा बनने पर भूल ही गये थे । यह है प्राकृत जनों का स्वभाव जो मात्र स्वार्थ पर आधारित होता है । हम देखते हैं कि आज कल स्वार्थ सिद्ध होते ही लोक अपने महान् उपकारी माता-पिता को भूल जाता है, तरुणाई में उनका निरादर करता है । आज का पुत्र नव मास तक गर्भ में रखने वाली ममतामयी माँ को 'अपनी तंग कोठी का किराया लेकर चली जाओ' कहकर भी लज्जा का अनुभव नहीं करता ।

आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने वाले तथा अपने दीन माता पिता की गाढ़े परिश्रम की कमाई से चमक-दमक रखने वाले क्षुद्र-बुद्धि विद्यार्थी स्कूल या सेवा-स्थलों पर पहुँचे हुये अपने सगे बाप को भी नौकर या गाँव वाला कहकर तिरस्कृत करते हैं तथा स्वाभिमान का अनुभव करते हैं । बेचारे माता-पिता फिर भी विपत्ति पड़ने पर अपनी नालायक संतानों की सेवा करते हैं, कष्ट के भागी बनते हैं । स्पष्ट है कि यह संसार अपने स्वार्थ साधकों तक नहीं है । फिर उससे निष्कपट प्रेम या अहैतुकी कृपा का आशा करना व्यर्थ ही है । भगवान् का स्वभाव इससे भिन्न है । वह जीवों पर अहैतुकी कृपा करते हैं । जीव भला उनका उपकार ही क्या कर सकता है । फिर

भी वह सगुण रूप में उतर कर अपने व्यवहार से कृतज्ञता, दया, क्षमा आदि का आदर्श उपस्थित करते हैं । रामचरित मानस तो ऐसे आदर्शों की खान ही है ।

भरत और लक्ष्मण का भ्रातृ स्नेह, सीता की पति भक्ति, सुमित्रा का ममता—त्याग जैसे अद्भुत और आदर्श गुण मानस के विभिन्न पात्रों में हमें उपलब्ध होते हैं । किन्तु भगवान् की अपने भक्तों पर ममता, अपने इन आदर्श सम्बन्धियों के प्रति ममता का भी अतिक्रमण कर जाती है, वे वानरों के लिये कहते हैं—

भरतहु ते मोहि अधिक पियारे ।

भगवान् सोचते हैं कि हमारे पारिवारिक जनों के स्नेह का तो आधार है पर भक्तों का स्नेह निरुपाधिक और सहज है । लोक अपने स्वाभाव के अनुसार प्रभु से स्वार्थपूर्ण प्रेम करता है, किन्तु भगवान् अपने स्वभावानुसार लोक को पूर्णकाम करते हैं । प्रभु एक हैं । उनकी किसी भी रूप का ध्यान, पूजा, अर्चा, उपासना आदि हो तो समान रूप से फल की प्राप्ति होती है । कोई भी देवता भिन्न नहीं है । सब एक ही परब्रह्म की, भक्तों का उद्धार करने के लिए भिन्न—भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं । जिनमें आधार का माध्यम के भेद से ही भेद प्रतीत होता है । एक ही मुखमण्डल है किन्तु दर्पण, तेल, जल तथा स्वच्छ धातुओं पर पृथक—पृथक रूपों में प्रतिबिम्बित होता है । यही दशा भगवान् की भी है । ये भक्तों की इच्छानुसार रूप ग्रहण कर उनके मनोमुकुर में प्रतिबिम्बित हुआ करते हैं । यदि सच्चे हृदय से की जाये तो बहुत लम्बी चौड़ी प्रार्थना की आवश्यकता नहीं पड़ती । **‘भावग्राही जनार्दनः’** भक्त प्रार्थना के मंत्र पढ़ने की चेष्टा करता है, किन्तु देव प्रतिमा के समक्ष आवाक् रह जाता है । क्या वह प्रार्थना नहीं करता ? देवता सब कुछ समझते हैं । भगवान् तो सच्चा भाव चाहते हैं, गुण चाहते हैं, संख्या या परिमाण का वहाँ अधिक मूल्य नहीं । भगवान् को प्रसन्न करने के लिए शुद्ध हृदय से की गई दो चार क्षण की ही प्रार्थना पर्याप्त है ।

भगवान् शंकर तो बहाना ढूँढ़ कर उद्धार करते हैं । कथा है कि भोलेनाथ की शिवरात्रि के दिन एक चोर को कुछ भी हाथ न लगा । वह

जंगल में जा रहा था कि एक शिव मन्दिर दिखा । वहाँ पहुँचा कोई दिखा नहीं। उसने शिवलिंग के ऊपर लटकता हुआ घंटा देखा । कुछ और सहारा न देख वह शिवलिंग पर चढ़कर उसे उतारने लगा शंकर जी ने सोचा कोई अपूर्व भक्त है, जिसने अपने को ही मुझ पर चढ़ा दिया है और प्रसन्न होकर उसका उद्धार किया । यह देवता का स्वरूप जो सामने पड़ने पर कल्याण करता ही है । इसी को गोस्वामी जी ने कहा है।

भाव कुभाव अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दशहू।।

भगवान् बिना किसी प्रतिफल की आशा के निरपेक्ष भाव से भक्तों को वरदान देते हैं । वह यह भी नहीं सोचते कि बाद में क्या होगा । भस्मासुर, हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष, रावण आदि को दिये गये वरदान परिणाम सोचकर नहीं थे । परिणाम सोचने वाला कृपण कभी दान नहीं करता और उदार व्यक्ति निरन्तर करता रहता है । मनुष्य जब दृढ़ भाव से सत्पथ पर चल पड़ता है, सदुद्देश्य की प्राप्ति होती है ।

साथ ही उस पथ के प्रति निष्ठा ही उसमें आने वाले विघ्नों से बचाती है । भगवान् विश्वनाथ की उदारता और हरिश्चन्द्र के सत्य ने अन्ततः उनको बचाया ही । इस तथ्य से अपरिचित निष्ठा हीन व्यक्ति विपत्ति में धैर्य खो बैठता है । जीविका के साधनों का आश्रय न लेना सन्न्यासी का धर्म है — जो संन्यासी इसमें दृढ़ रहता है, उसकी यही निवृत्ति—निष्ठा ही उसका पालन करती है—‘अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा’ अर्थात् निवृत्तिनिष्ठ की निवृत्ति अजगर के समान वृत्ति देने वाली बन जाती है । किन्तु जब सन्न्यासी अधीर होकर जीवकोपार्जन में लग जाते हैं। जो उनके लिये शोभा जनक नहीं है । अपने योग—क्षेम के विषय में निष्क्रिय रहना उनका भूषण है, परन्तु यही गृहस्थ के लिये दूषण है ।

“अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम ।

दास मलूका कह गये सबके दाता राम ।।”

इसी हेतु प्रभु ने अजगर के श्वास में इतनी शक्ति दी है । कि वह श्वास खींच कर ही उदर पूर्ति कर सकता है । जिसने अपने को भगवान् के भरोसे छोड़ दिया है, उसका भरण पोषण वही करते हैं । जो धोखे से

भो भगवान् की शरण में गया तर गया, फिर श्रद्धा से पहुँचने वालों की तो बात ही क्या ?

संसार में दुःख हैं, अतः उसके प्रेम से दुःख होगा । प्रभु समस्त सुखों की खानि हैं । अतः वहाँ प्रेम से सुख मिलेगा और कल्याण होगा । प्रभु से प्रेम करने से अनायास उनमें मन स्थिर होगा । मन के स्थैर्य से शान्ति मिलेगी, निरन्तर चिन्तन करने से विश्वास बढ़ेगा । सच्चा स्नेह और प्रेम प्रभु में मूर्तिमान है, अतः उन्हीं से प्रेम कर जीव कृतकृत्य हो सकता है ।

इसी में उसका कल्याण है ।

सप्तम प्रसून

भगवान् अत्यन्त सुशीलवान् हैं । उनके हृदय में करुणावरुणालय उमड़ता है । वही कृपाघन बनकर समय—समय पर भक्तों तथा अभक्तों सब पर बरस जाया करता है । यह उनकी उदारता का, सुशीलता का अति उत्कृष्ट निदर्शन है कि वह अपने तथाकथित शत्रुओं पर भी, खलों और महादुष्टों पर भी दया दृष्टि रखते हैं और अपने हाथों से मारकर उन्हें परम—गति देते हैं । प्रभु खलोद्धार का कार्य स्वयं करते हैं, यदपि उनकी कृपा से अनेक सेवक भी वह कार्य करने में समर्थ रहते हैं । रावण का वध सभी विशेषकर हनुमान् और अंगद कर सकते थे, किन्तु उनकी कृपा तो देखिये, उसको स्वयं सद्गति देते हैं । भक्तों के कल्याण हेतु भी वह स्वयं आते हैं । द्रोपदी की लाज स्वयं द्वारका से दौड़कर बचाई थी, गज के रूदन पर नग्न पद दौड़े थे । भक्तों के कल्याणार्थ भगवान् का स्वयं आना अर्थात् अवतार लेना केवल हिन्दुओं के सनातन धर्म में है । ईशा प्रभु पुत्र थे, प्रभु नहीं, मुहम्मद साहब पैगम्बर थे, दूत ही थे, साक्षात् प्रभु नहीं । किन्तु हमारे अवतार वे स्वयं ही हैं । उनमें स्वयं ही अवतरित होते हैं । कृष्ण तो साक्षात् पूर्णाश भगवान् ही थे । कहा गया है—“**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**” । यही बात भगवान् राम के सम्बन्ध में भी है—“**रामस्तु भगवान् स्वयम्**” । लोकाद्धार के लिये भगवान् का स्वयं आना उनकी हीनता का नहीं अपितु भक्तों के कल्याण, दुःख—प्रणाश हेतु आतुरता का द्योतक है ।

एक अहिन्दू शासक को हिन्दूओं के इस सिद्धान्त पर शंका हुई । उसने अपने हिन्दू मंत्री से दूतों को न भेज कर प्रभु के स्वयं आने का कारण पूछा । मंत्री ने कुछ समय पश्चात् व्यवहार में ही यह दिखाना

चाहा । राजा के भूल जाने के कुछ समय पश्चात् उस मंत्री ने नाविकों को समझा बुझाकर राजा के पुत्र की एक मोम की पुतली बनवाई और उसे तदनुरूप वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर नाव पर रखकर नदी में ले जाने को कहा । इधर वह स्वयं भी राजा के साथ नौका-विहार हेतु गया । राजा ने कुमार को नाव पर देखा । कुछ ही देर में वह देखते हैं कि वह कुमार एकाएक जल में गिर गया है । राजा नौकरों की बिना अपेक्षा किये स्वयं बचाने के लिये अपनी नाव से कूद पड़े-निकलने पर-मोम का पुतला देखकर उसे क्रोध आया और गुमसुम होकर नाव पर बैठ गया । जब थोड़ी देर में आवेग कुछ शान्त हुआ तब मंत्री ने उपालम्भ दिया कि 'बालक को जल से निकालने के लिये हम अनेक सेवक थे महाराज को स्वयं जल में नहीं उतरना चाहिये था' । राजा बोला-मन्त्रिन्, मैं विवश था, अपने प्राणाधिक पुत्र को अपने सामने डूबते मुझसे नहीं देखा गया । पुत्र को निकालने में आज्ञा देने के विलंब का समय मेरे लिये असह्य था । अवसर पाकर मंत्री ने समझाया कि महाराज जैसे आप अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र को बचाने के लिये दौड़ पड़े, नौकरों को आज्ञा नहीं दी, उसी प्रकार भक्त वत्सल प्रभु भी उद्धार हेतु स्वयं दौड़ पड़ते हैं । उनसे रहा नहीं जाता । यह घटना आपको समझाने के लिये आयोजित की गई थी । शासक चकित रह गया, इस उत्तर से ।

भगवान् जब दुष्टों के उद्धार हेतु उन्हें जीवन से मुक्ति देते हैं तो, अज्ञानी लोक समझने लगता है कि उन्होंने उसे मार डाला । यह भाव अज्ञान के ही कारण है । माता अपने पुत्र को जबरदस्ती खींचकर दूध पिलाती है, उबटन करती है जो जीवनवर्धक है, किन्तु बालक की दृष्टि में अत्याचार प्रतीत होता है । यही दशा प्रभु-कर्मा की है । भगवान् असुरों की गर्दन दबाते हैं, उनका उद्धार करने के लिये, मुक्ति फल देने के लिये । भगवती कपाल, खप्पर, त्रिशूल आदि धारिणी काली बध करके असुरों को आत्मसात् करती हैं ।

लोगों को देवी, देवता, राम, कृष्ण आदि शब्दों में इनमें भेद नहीं समझना चाहिये । हमारे यहाँ न जाने कितने करोड़ देवी देवता हैं । किन्तु

जितने स्वरूप हैं सबमें एकता है । यह केवल पुराणों तक की बात नहीं है । वेदों में भी कहा गया है कि—

“एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति”

अर्थात् सत्य देवता एक है, उपासक लोग इनको मातरिश्वा, यम आदि नामों से पुकारते हैं । गीता में भी भगवान् ने कहा है कि किसी भी देवता को लक्ष्य करके जो कुछ किया जाता है, अन्ततः मेरे ही पास आता है । यह सनातन धर्म का सिद्धान्त है जो बाहर से अनेक दृष्टिगोचर होता है और भीतर से एक है, नारंगी के समान नहीं, खरबूजे के भाँति । नारंगी बाहर से एक भीतर से अनेक होती है और खरबूजा बाहर से भिन्न—भिन्न किन्तु भीतर से एक होता है । सनातन—धर्म में मत अनेक हैं, देवी देवता अनेक हैं, उपासना की पद्धतियाँ भिन्न—भिन्न हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रम अनेक हैं, किन्तु सबका लक्ष्य एक है । भगवान् एक ही हैं, उनकी प्राप्ति के मार्ग भिन्न—भिन्न हैं, इन सभी मार्ग का लक्ष्य एक ही है । एक परमेश्वर के पास ही ये मिलते हैं और वहीं इनका पर्यवसान है । प्रत्येक मार्ग का पान्थ—भक्त अपने—अपने ही मार्ग को सबसे उत्तम समझाता है । यही भाव कल्याण—प्रद भी है ।

लोग कहते हैं कि सभी मार्ग एक स्थान को नहीं जाते । यदि ऐसा होता तो कोई कहीं भी चलता एक ही स्थान पर आ पहुँचता । बात सही है । सभी मार्ग एक ही स्थान पर नहीं मिलते, किन्तु बहुत से मार्गों का एक लक्ष्य हो सकता है । पृथ्वी लम्बी चौड़ी है उनमें अनन्त स्थानों से अनन्त व्यक्ति एक केन्द्र की ओर चले तो निश्चित है अनेक मार्ग होंगे । इसीप्रकार साधना के क्षेत्र में जो जिस कोटि का साधक है, वह वहीं से चलेगा प्रभु की ओर । सम्भव है जिसके मार्ग में नदी नहीं पड़ी, जंगल नहीं आया, वह उसका वर्णन करे, और जिसके मार्ग में पड़े हैं, वह अपने पीछे चलने वालों को उनकी कठिनाईयों से बचने का उपाय बताएं । बहुत से मार्ग की अनुभूतियाँ तो परस्पर पूरक हैं । भगवान् शंकराचार्य ने अद्वैत सम्बन्धी साधना को राजयोग का माना है । किन्तु उन्होंने स्पष्ट कहा है अपने ‘अपरोक्षानुभूति’ ग्रन्थ में कि जिनके कल्मष क्षीण नहीं हुये हैं उनको

इसके साथ हठयोग की क्रियाओं का सम्बन्ध चाहिये । उनके शब्दों में—

एभिरंगैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः ।

किंचिदपक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः ॥143॥

परिपक्वं मनोयेषां केवलोऽयं च सिद्धिदः ।

गुरुदैवतभक्तानां सर्वेषां सुलभो जवात् ॥144॥

सांख्य और योग, पूर्व तथा उत्तर मीमांशा, न्याय और वैशेषिक दर्शनों की परस्पर पूरकता—सबकी एक लक्ष्य में चरम परिणति शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित है । अतः साधकों को चाहिये कि वे मत मतान्तरों का भेदभाव भूलकर अपनी—अपनी दीक्षित परम्परा का अनुसरण करें और सभी सम्प्रदायों तथा धार्मिक मतों और उनकी परम्पराओं में विद्यमान सिद्ध—गुरुओं के प्रति सम्मान की भावना रखें । किसी एक परम्परा या सम्प्रदाय में दीक्षित होना, अपने इष्टदेव में सर्वाधिक श्रद्धा रखना बहुत ही श्रेयस्कर है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं की दूसरे देवताओं और सम्प्रदायों का तिरस्कार किया जाय । कहा जाता है कि भगवान् राम के अनन्य उपासक महात्मा तुलसीदास जी एक बार वृन्दावन गये । जब मन्दिर में जाकर वे भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम करने को उद्यत हुये, मन्दिर का पुजारी बोला—

अपने अपने इष्ट को नमन करै सब कोय ।

परशुराम बिन इष्ट के नमै सो मूरख होय ॥

गोस्वामी जी ने पुजारी की भेद बुद्धि मिटाने के उद्देश्य से कहा—

का बरनौ छवि आपकी भले विराजौ नाथ ।

तुलसी मस्तक नमत है धनुष बाण लो हाथ ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अपने भक्त की इच्छा पूर्ण करने के लिये हाथ में धनुष बाण धारण करके दर्शन दिया और इस प्रकार बताया कि हममें परस्पर कोई भेद नहीं है । तभी से भक्त जन गाते हैं—

कित मुरली कित चन्द्रिका कित गोपिन को साथ ।

अपने जन के कारणे, कृष्ण भये रघुनाथ ॥

शिव पुराण में भगवान् शंकर, देवी भागवत में भगवती, श्रीमद्भागवद में कृष्ण, रामायण में राम, विष्णुपुराण में विष्णु इसी प्रकार विशेष—विशेष

ग्रन्थों में देव विशेष को सबसे बड़ा देवता अपने अपने प्रसंग में कहा गया है। इसका भी अभिप्राय किसी अन्य देवता या देवताओं का तिरस्कार नहीं, अपितु अपने इष्ट के प्रति दृढ़ एवं अचल निष्ठा में ही है । नियम है—

नहि निन्दा निंद्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुम् ।
शास्त्रेषु यत्रापि अन्यस्य निन्दा दृश्यते तत्र न निन्दायां तात्पर्यम्
अपितु आराध्यदेवतायां निष्ठास्थापने एव यथा कश्चिद्रसिकः स्वीयां
मुग्धां भार्या कोपयितुं स्वशुनकं श्यालनाम्ना गालयति । साप्ययम्
मदभ्रातरम् गालयतीति मत्वा कुप्यति । तत्र तस्य मुग्धायाः प्रेयस्याः
कुपितभृकुटितटावलोकने एव तात्पर्यं न तु गालिदाने ।

जैसे कोई रसिक अपनी मुग्धा भार्या को कुपित करने के लिये अपने कुत्ते का साले के समान नाम रखकर कुत्ते को गाली देता है किन्तु वह ये मेरे भाई को गाली दे रहे हैं, ऐसा मानकर नाराज होती है । वहाँ जैसे उस रसिक का अपनी मुग्धा प्रेयसी के कुपित भृकुटि तट के सौन्दर्य दर्शन में तात्पर्य है—गाली देने में नहीं उसी प्रकार ऐसे स्थलों में भी अन्य देवों की निन्दा में तात्पर्य न होकर अपने उपास्य में दृढ़ निष्ठा करने में है ।

भगवान् शंकराचार्य एक स्थान पर कहते हैं—

भवानि ! स्तोतुं त्वां प्रभवति चतुर्भिर्न वदनैः

प्रजानामीशानस्त्रिपुरमथनः पंचभिरपि ।

न षड्भिः सेनानी दशशतमुखैरप्यहिपति

स्तदान्येषां केषां कथय कथमस्मिन्नवसरः ॥

हे भगवती, भगवान् ब्रह्मा अपने चार मुखों से, शिव जी पाँच मुखों से, कार्तिकेय छः मुखों से और शेषनाग सहस्र मुखों से भी आपकी महिमा का वर्णन नहीं कर सकते, फिर किन एक मुख वालों का प्रवेश स्तुति हेतु सम्भव है ? अर्थात् जब इतने मुखों से आपकी स्तुति नहीं की जा सकती तो फिर एक मुख से कैसे की जा सकती है । यहाँ ब्रह्मा, भगवान् शिव, कार्तिकेय तथा शेषनाग की हेयता नहीं अपितु भगवती की अनाख्येयता का प्रतिपादन ही अभिप्रेत है ।

कहीं कहीं तो निन्दा ही स्तुति और निषेध ही विधान बन जाता है ।

इसलिये बहुत से भक्त कवियों ने अपने मन को सम्बोधित कर उसे भगवान् से पृथक् ही रहने की बातें कही हैं, किन्तु यह निश्चित है कि इसका अभिप्राय वस्तुतः प्रभु-चरणों की ओर उन्मुख होना ही है । अन्य भक्त कवियों के अतिरिक्त पण्डितराज जगन्नाथ, जिन्होंने लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही भावों की अभिव्यक्ति अत्युत्तम ढंग से की है, भी एक स्थान पर कहते हैं—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं, वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां, नवाम्बुदनिभो बन्धुर्नकार्यस्त्वया ।
सौन्दर्याद्भुतमुद्गिरदभिरभितः संमोह्य मन्दस्मितैः
एष त्वां तववल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नश्यति ॥

हे चित्त ! सुनो, मैं तुम्हारे कल्याण की उस बात को कह रहा हूँ कि तुम उस नवमेघश्यामल अंगों वाले अपरिचित अथवा अत्यन्त शोभाशाली व्यक्ति को अपना भाई-बन्धु मत बना बैठना, जो वृन्दावन में गायों के वृन्द को चरा रहा है । वह तो ऐसा व्याध है कि वह सर्वत्र अपनी विचित्र छटा छिटकाने वाले सौन्दर्यरूपी अमृत और मन्द मुस्कानों से विमोहित करके तुमको तथा तुम्हारे प्रिय-बन्धु-रूप विषयों को तत्काल ही नष्ट कर देगा । इसका विशेष ध्यान रखना । यहाँ इन निषेधात्मक वाक्यों का व्यंग्यार्थ विधि-परक है । जिसका अभिप्राय है कि हे मन! यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक शोभायुक्त मन्द मुस्कानों का स्मरण करो, ध्यान करो ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी साधकों को विरोध प्रतीत हो सकता है किन्तु वस्तुतः वह है नहीं । भक्तों को मुख्य प्रयोजन जानकर कृतकृत्य हो जाना चाहिये विनय-पत्रिका में अपने इष्टदेव राम के प्रति अनन्य निष्ठा रखते हुये भी गोस्वामी जी गणेश, सूर्य, शिव, शक्ति सभी का स्मरण और वन्दन करते हैं । मानस में उन्होंने स्थान-स्थान पर हरि हर में अभेद प्रकट किया है । वे भगवान् राम के विवाह का वर्णन करने के पूर्व ही भगवान् शिव के विवाह का वर्णन करते हैं । जयन्त के प्रसंग में उन्होंने कहा—

कीन्ह मोहवश द्रोह, यद्यपि तेहि कर वध उचित ।

प्रभु छाँड़ेउ करि छोह, को कृपाल रघुवीर सम ॥

इस उक्ति के अनुसार अन्य की कृपालुता पर आक्षेप प्रतीत होता है किन्तु ऐसा ही उन्होंने शिव के विषय में भी कहा है—

जरत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जेहि पान किय ।

तेहि न भजसि मतिमन्द, को कृपालु शंकर सरिस ।

भगवान् शंकर के विषपान की कथा शिक्षाप्रद, रोचक और अद्भुत है । अमृत लाभ की आकांक्षा से जब देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्र मन्थन प्रारम्भ किया तब सर्वप्रथम हलाहल विष निकला ।

गीता में सात्त्विक सुख का लक्षण बतलाया है ।

यत्तदग्रे विषमिय परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।

अर्थात् जो पहले तो विषवत् प्रतीत हो पर परिणाम में अमृत तुल्य हो, वह आत्माकार बुद्धि की निर्मलता से होने वाला सुख सात्त्विक सुख है । राजसिक सुख है—

विषयेन्द्रिय संयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

जो विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हो प्रारम्भ में अमृत जैसा लगे किन्तु परिणाम में विषय तुल्य हो वह राजस सुख है । और

यदग्रेचानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

जो सुख प्रारम्भ और अन्त दोनों में अन्तःकरण को मोह में डाल देता है, निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है । वह तामस सुख है । देवगण सात्त्विक सुख चाहते थे, अतः प्रारम्भ में हलाहल तो निकलना ही था अब आवश्यकता थी उसको पान करने की । विष में से भीषण लपटें निकलने लगीं । देवता संत्रस्त होकर भगवान् भूत-भावन सदाशिव की शरण में गये और कहा—“त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद् विषात्” महाराज त्रैलोक्य को जलाने वाले इस विष से हम शरणागतों को बचाइए । लोक में भी प्रायः देखा जाता है कि बालक काम तो अपने मन से करते

हैं, करने के पूर्व बड़ों से परामर्श नहीं करते। पर जब उसका विपरीत परिणाम होने लगता है, तब उससे बचने के लिये बड़े बूढ़ों की शरण में जाकर त्राण पाते हैं। देवताओं की दीनता से द्रवित होकर जब भव ने भवानी से प्रजा के कल्याण के लिये विषपान की अनुज्ञा मांगी तब करुणामयी जगदम्बा उमा ने भी इसका अनुमोदन किया, क्योंकि वे भगवान् शिव के प्रभाव से भलीभाँति परिचित थीं।

हलाहल विष को हथेली में लेकर भगवान् आचमन करने के पूर्व सोचने लगे की इसको रखा कहाँ जाय। भावुकों का कथन है कि पहले भगवान् ने उसे हृदय में रखने की सोची पर तुरन्त ही विचार आया कि हृदय में विष रखना संतों का कार्य नहीं है। मानस में एक स्थान पर आया है—

मन मलीन तन सुन्दर कैसे । विष रस भरा कनक घट जैसे ।

जिसका हृदय मलिन है जाहे वह शरीर से कितना ही सुन्दर क्यों न हो विष पूरित स्वर्ण घट के समान ही है। हृदय के पश्चात् दूसरा विकल्प आया कि विष को मुख में ही रहने दिया जाये पर यह भी उचित नहीं प्रतीत हुआ क्योंकि विष मुख होना भी बहुत बड़ा दुर्गुण है। जब भगवान् राम ने श्रीपरशुराम जी से लक्ष्मण को पयोमुख कहा तब परशुरामजी ने उनकी कटुक्तियों को लक्षित करते हुये उत्तर दिया—

“काल कूट मुख पय मुख नाही”

देखा जाता है कुछ लोग हृदय से अच्छे होते हुये भी कटुवादी होने के कारण मर्मस्पर्शी वचनों से दूसरों को व्यथित कर देते हैं। किन्तु सज्जनों की वाणी और अन्तःकरण दोनों ही निर्मल होते हैं। **“सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।”** मनु के इस वचन का अनुसरण करते हैं। सज्जनों के उपास्य देव शंकर को भला विष मुख होना कैसे रुचिकर होता। अतः उसको वाणी में रखने का विचार ही छोड़ दिया। विषमुख होना अच्छा नहीं है। कुछ लोग इसके समर्थन में कहा करते हैं कि ‘हमारा मन साफ है, पर हम सच बात कह देते हैं, चाहे इसमें किसी को बुरा लगे या भला लगे, हमें इसकी चिन्ता नहीं।’ किन्तु यह ठीक नहीं, वाणी के दोष से सगुण भी दुर्गुण बन जाते हैं। किसी अनुभवी

ने अपनी जीभ से कटुक्तियों के कारण अपमान होने पर दुःख पूर्वक कहा है—

जिह्वा तू तो बावरि, बकी आकाश पताल ।

आप तो कह भीतर गई, जूती खाये कपाल ॥

एक तपस्वी मौनी बाबा जी थे । बहुत समय से मौन रहते थे कभी कुछ कहना हो तो लिखकर कहते थे । भ्रमण करते हुये वे किसी ग्राम के निकट ठहरे, आसपास के ग्राम वासियों की उन पर श्रद्धा हो गयी । एक दिन सब ने मिलकर उनसे प्रार्थना की कि यदि आप मौन का नियम त्याग दें तो अधिक लोक कल्याण होगा । आपके पवित्र उपदेशों से सहरत्रों की बुद्धि सदाचार, सद्विचार की ओर उन्मुख होगी । तपस्वी जी ने उत्तर दिया—यदि आप लोग यज्ञ करें, अन्त में गोदान करें तो हमारा मौन टूट सकता है । सबने बड़े उत्साह से यज्ञ करवाया, अन्त में किसी ब्राह्मण को गोदान भी किया गया । तपस्वी जी ने मौन तोड़ा, लोगों को बहुत प्रसन्नता हुई । किन्तु जब वे उन्मुक्त होकर कर्कश वाणी से लोगों को फटकारने लगे तो लोग घबरा गये, आपस में कहने लगे 'इससे तो ये मौन ही अच्छे थे।' कुछ ने तो जाकर कह भी दिया कि — 'महाराज भले ही पुनः यज्ञ करवाना पड़े, कृपा करके पूर्ववत् मौन धारण कर लें तो हम लोगों को शान्ति मिलेगी।' विष को मुख में ना रखकर मानो भगवान् सदाशिव ने सज्जनों को वाणी के दुगुणों से बचने की प्रेरणा दी ।

भक्तों की दृष्टि में विष को उदर और मुख में स्थान न देने का एक कारण यह भी था कि भगवान् शंकर बालरूप राम के उपासक हैं । भगवान् राम सदा उनके हृदय में विराजमान रहते हैं —

“शंकर मानस राज मराला”

बालक के निकट विष रखना उचित न था । और मुख में विष का विरोधी रामनामामृत था । अमृत और विष का सामानाधिकरण्य कैसे बनता । अतएव तीसरा ही स्थान विष के लिये निश्चित किया । जब कोई संसार से तिरस्कृत होकर भगवान् की शरण लेता है, भगवान् उसे कण्ठ से लगाते हैं । विष को भी विश्वनाथ के कण्ठ में ही स्थान मिला । जब भगवान् शंकर ने विषपान किया, विष ने अपना प्रभाव दिखाया उनका

कण्ठ नील वर्ण हो गया । कोई कितना ही सद्व्यवहार करे दुष्ट लोग अपनी दुष्टता नहीं छोड़ सकते । किन्तु इससे सदाशिव का क्या बिगड़ सकता था । कर्पूरगौर श्रीअंग में नीलिमा ने एक अद्भुत छटा ला दी । भगवान् शिव तभी से नीलकण्ठ कहलाने लगे ।

भगवान् शिव के विषपान की इस लीला पर श्रीमद्भागवत में एक बड़ा सुन्दर श्लोक है—

तप्यन्ते लोकतापेन प्रायशः साधवो जनाः ।

परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥

अर्थात्— लोक का ताप देखकर साधु जन प्रायः स्वयं सन्तप्त हो जाते हैं । उनका यह ताप ही सर्वान्तरात्मा परम—पुरुष का परमाराधन बन जाता है ।

भगवान् शिव की इस निरुपम करुणावरुणालयता का स्मरण करके गोस्वामी जी भगवान् राम और शिव की अद्वितीयता अभेद का ही प्रतिपादन करते हैं ।

अतः साधक जीव को चाहिए कि वह इस प्रकार की भेद—बुद्धि को दुष्कर प्रभु के चरणों में बैठ जाय । प्रभु उसके कष्टों को दूर करने के लिए सर्वदा व्याकुल रहते हैं । उन्होंने आदिकाल से ही भक्तों के दुःख रूप विष का पान किया है । वह चाहते तो अस्वीकार भी कर सकते थे और कह सकते थे कि हे सुरों, हे असुरों जब तुम लोगों ने इसको मथकर निकाला है तो तुम्हीं इसका फल भी भोगो । किन्तु उस करुणासिन्धु के हृदय में ऐसा विचार नहीं आ सकता, कहने की तो बात ही क्या ? यह विष प्रतीत भर होता है किन्तु वस्तुतः है नहीं । भगवान् ऐसा सुख निरन्तर धारण करते हैं । वह आनन्द स्वरूप हैं, अतः कष्ट नहीं होता । प्रभु विष पान का महत्त्व और प्रभाव जानते हैं ।

दुःख की बात यह है कि जीव ऐसे सुख को समझता है जो अत्यन्त निकृष्ट कोटि का होने से मन और आत्मा को सदा मोहित करके अन्धकार में रखता है । किन्तु उसे लगता ऐसा है मानों सबसे बड़ा सुख वही हो ।

राजसिक और तामसिक सुखों से मन को हटाने में एक बार विषपान जैसा कष्ट तो होता है किन्तु अनन्त माधुर्य और आनन्द के महासिन्धु में

उसको लगा देने पर, लीन कर देने पर एकान्तिक और आत्यन्तिक अर्थात् पूर्ण रूप से सदा के लिए आनन्द ही आनन्द है, सुख ही सुख है दुःख का लेश भी नहीं । इसी सुख हेतु साधक का प्रयास होना चाहिये ।

भगवान् विषपान करके इसी सुख को प्राप्त करने के लिए जीवों को प्रेरित करते हैं, जो विष पहले विष लगता था, वही पी लेने पर अपने और अन्य कितने ही प्राणियों के प्राण न लेने के कारण अमृतोपम हो गया । यह बुद्धि तभी उत्पन्न हो सकती है, जब इन्हीं सौन्दर्य सुख निधान को आदर्श मानकर साधक साधना करे अर्थात्—मन, कर्म तथा वाणी से पूर्णतः अपना समर्पण उनको कर दे । एक भक्त कवि ने बड़े ही सुन्दर ढंग से इसी प्रकार के भाव को व्यक्त किया है । वह कहता है—

रात्रिः शिवा काचन सन्निधत्ते, नेत्र तथा जाग्रतमप्रमत्तम् ।

समान धर्मा युवयोः सकाशे, सखा भविष्यत्यचिरेण कश्चित् ।।

अर्थात् यह शिवरात्रि है, कल्याणमयी शिवारूपी रात्रि है । अतः हे नेत्रों ! तुम दोनों प्रमाद आलस्य से रहित होकर, सावधान होकर अर्थात् तामस सुख को छोड़कर, जाग्रत रहो । क्योंकि तुम दोनों के समान धर्म गुण वाला कोई अलौकिक व्यक्ति शीघ्र ही तुम्हारा मित्र होने वाला है । शिवरात्रि को जागरण करने वाले को शिव का सारूप्य प्राप्त होता है । वह त्रिनेत्र बन जाता है । साधक तीसरे नेत्र के आगमन की ओर इस श्लोक में संकेत कर रहा है । इसका अभिप्राय यही है कि इस घोर तमसाच्छन्न—तामस सुखों से भरे हुये संसार में आँखें खोलकर विवेक पूर्वक चलने वाले को आत्मगुण, आत्मसुख और आत्मानन्द प्रकाशित होते हैं । शिवरात्रि की रात में जागना इसी रहस्य का प्रतीक है ।

अतः विवेकी प्राणी वही है, कल्याण उसी का होता है जो तामस सुख रूपी रात्रि में शयन न कर—आसक्त न होकर — प्रभु चरणों से प्रसारित अनन्त सात्त्विक सुख में रमण किया करता है । निरन्तर प्रभु के चरणों का ध्यान किया करता है । इसी में उसका कल्याण है और यही उसे करना भी चाहिए ।

अष्टम—प्रसून

भगवत्प्राप्ति से ही दुःखों की अत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है । भगवत्साक्षात्कार और उनकी प्राप्ति एक ही है । इसी से जीव कृतकृत्य होता है । इसके बिना शान्ति नहीं । यद्यपि सच्चिदानन्दघन व्यापक ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, सबके हृदय में अवस्थित है फिर भी उसको न जानने के कारण जीव विविध तापों से सन्तप्त होते हैं ।

सन्त कबीर ने कहा है—

कबिरा दुःखिया कोउ नहीं, सबकी गठरी लाल ।

गाँठ खोल जाने नहीं ताते भया कंगाल ।।

अर्थात् संसार में वस्तुतः कोई दुःखी नहीं है, सबकी गठरी में लाल भरा है । पर गाँठ खोलना न जानने के कारण कंगाल बने हुये हैं । भयंकर संसार समुद्र में डूब रहे हैं । जनन—मरण—विच्छेद—लक्षणा संसृति में पड़े हैं । भगवान् के दुरधिराम स्वरूप का दर्शन कराकर इन सब दुःखों से छुटकारा दिलाने की अद्भुत शक्ति भगवान् के नाम में ही है । शास्त्रों में नाम और नामी का अभेद माना जाता है । दोनों ही एक ब्रह्म के विवर्त हैं ।

अभिधेयात्मक प्रपंचोत्पादनाकुल शक्ति और अभिधानात्मक प्रपंचोत्पादनानुकूल शक्ति के भेद से एक ही सत्—चित—आनन्द स्वरूप ब्रह्म के दो अंश मान लिये जाते हैं ।

एक है सदंश और दूसरा चिदंश, आनन्दांश का दोनों से ही अन्वय है । इस प्रकार अभिधेयात्मक प्रपंचोत्पादनाकुल शक्त्यावच्छिन्न सदंश से नामी एवं अभिधानात्मक प्रपंचोत्पादनानुकूल शक्त्यावच्छिन्न चिदंश से नाम की उत्पत्ति होती है । नामी को अर्थ और नाम को शब्द के रूप में भी समझा जा सकता है । यह नियम है कि तदभिन्नाभिन्न तदभिन्न होता है । अर्थात् जो जिसके अभिन्न से अभिन्न होता है, वह उससे भी अभिन्न होता

है। जैसे एक ही स्वर्ण से कटक और कुण्डल दो आभूषण बने, दोनों देखने में भिन्न-भिन्न हैं, पर कटक से अभिन्न स्वर्ण से अभिन्न होने के कारण कुण्डल का कटक से भेद नहीं। स्वर्णात्मना दोनों एक ही हैं। उसी प्रकार नामी (अर्थ) का अपने कारण सदंश से अभेद है और नाम (शब्द) का अपने कारण चिदंश है। सदंश और चिदंश अभिन्न ही हैं। अतएव उनसे अभिन्न नामी (अर्थ) और नाम (शब्द) भी अभिन्न ही हैं। नामी को अभिधेय और नाम को अभिधान कहा जा सकता है। दोनों में से अभिधेय अभिव्यंग्य और अभिधान अभिव्यंजक है। इस प्रकार नाम नामी का अभिव्यंजक हुआ। कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि— 'यदि नाम नामी का अभेद है तो मोदक कहने से मुँह भर जाना चाहिये और छुरा कहने से कट जाना चाहिये पर ऐसा तो नहीं देखा जाता। किन्तु यह आक्षेप निराधार है क्योंकि यहाँ तात्त्विक एकता का प्रतिपादन किया जा रहा है। औपाधिक भेद तो मान्य ही है। उपाधि के मिटने पर यह भी नहीं रहता अभिव्यंजक होने के कारण नामी का नाम से अधिक महत्त्व है। गोस्वामी जी कहते हैं —

**राम भालु कपि कटक बटोरा, सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा,
नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं, करहु विचार सुजन मन माँही।**

अर्थात् राम ने तो बानर भालुओं की सेना एकत्र की, अत्यन्त परिश्रम से सेतु बाँधा, तब समुद्र को पार किया जा सका, किन्तु राम नाम लेने पर तो सेतु बाँधने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। राम नाम लेते ही संसार समुद्र सूख जाता है, सज्जन मन में विचार करें। भक्तों का तो कथन है कि जो समुद्र बाँधा गया है वह भी नाम के प्रभाव से ही बाँधा जा सका। वानरों, भालुओं, ने पर्वतों की शिलायें ला-ला कर नल नील के हाथों में देना प्रारम्भ किया। नल नील राम नाम लेकर उन्हें समुद्र में छोड़ने लगे। नाम के प्रभाव से शिलाएँ जल में तैरने लगीं किन्तु जब समुद्र अपनी तरंगों से उन शिलाओं को बिखेरने लगा तब नल नील ने एक शिला 'रा' कहकर छोड़ी और दूसरी 'म' कहकर। इस प्रकार वे परस्पर जुड़ने लगी और पुल बनकर तैयार हो गया। भगवान् श्रीराम निरीक्षण करने पधारे, उन्हें यह पूछने पर की शिलाएँ जल में कैसे उतरा रहीं हैं—बताया गया कि आपके

नाम के प्रभाव से यह शिलाएँ समुद्र में तैर रही हैं । तो उन्होंने आश्चर्य की मुद्रा बनाकर, एक पास का शिलाखण्ड उठाकर समुद्र में छोड़ते ही वह डूब गया । भगवान् नल नील की ओर देखने लगे । नल नील को कोई उत्तर नहीं सूझा । इतने में श्रीहनुमान् जी सामने आकर बोले प्रभु ! जिसको आप अपने करकमल से त्याग देंगे, वह तो डूबेगा ही इसमें सन्देह की बात ही क्या है । अभी हम आपको आपके नाम का प्रभाव दिखलाते हैं, ऐसा कहकर एक बहुत बड़ी शिला उठाई और राम नाम लेकर समुद्र में उसको फेंका । शिला तैरने लगी । भगवान् मुस्कुरा पड़े ।

“श्री रघुवीर प्रताप ते सिन्धु तिरे पाखान”

और भव समुद्र तो नाम से ही सूखता है । नाम से यह संसार समुद्र कैसे सूख जाता है इस पर श्रीगोस्वामी जी का सज्जनों से अनुरोध है कि वे मन में विचार करें । विचार करते समय हमें यह देखना चाहिये कि संसार दिखता कैसे है । बालकाण्ड में भगवान् भूत-भावन शंकर भगवती शैलजा पार्वती के प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व इष्ट देवता का स्मरण करते हुये कहते हैं—

झूठेहूँ सत्य जाहि बिनु जाने, जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ।
जेहि जाने जग जाई हिराई, जागे जथा स्वप्न भ्रम जाई ।
बन्दऊँ बाल रूप सोई रामू, सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥

अर्थात् जिस प्रकार मन्द अन्धकार में पड़ी हुयी रस्सी को न जानने से उसमें झूठा भुजंग (सर्प) सत्य के समान दिखाई पड़ने लगता है, उसीप्रकार जिसको बिना जाने यह मिथ्या संसार सत्यवत् भासित होता है और जिस प्रकार जाग जाने पर स्वप्न का भ्रम चला जाता है, उसी प्रकार जिसको जान लेने पर यह जगत् खो जाता है — बाधित हो जाता है मैं उसी राम की बाल रूप में वन्दना करता हूँ । जो नाम जप के द्वारा सब प्रकार से सुलभ है ।

भगवान् शंकर का यह मंगलाचरण जीव का मंगलकरण है । इसी में वह रहस्य है जिसको समझ लेने पर यह संसार समुद्र सुखाया जा सकता है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः भवसिन्धु आनन्द सिन्धु राम

में उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार रज्जु में सर्प कल्पित होता है—
स्वप्नद्रष्टा में स्वप्न कल्पित होता है । सुखित्व—दुःखित्व का ही नाम
संसार है । अज्ञानी जीव आनन्दसिन्धु में बैठा हुआ ही इसमें इस संसार
की कल्पना कर बैठता है । उसके ध्यान में यह नहीं रहता कि मेरे बाहर
भीतर मध्य में सर्वत्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है । वस्तुतः उनसे मेरी पृथक्
सत्ता है ही नहीं । विनय पत्रिका में श्रीगोस्वामी जी जीव को सम्बोधित
करते हुये कहते हैं—

आनन्द सिन्धु मध्य तव वासा,
बिनु जाने कत मरसि पियासा ।

तेरा तो आनन्दसिन्धु के मध्य में ही निवास है उनको बिना जाने ही
तू क्यों प्यासा मर रहा है । कबीर साहब अन्योक्ति में बोलते हैं —

धुविया जल बिच मरत पियासा
जल में ठाढ़ पिये नहीं मूरख
अच्छा जल है खासा ।।

जीव रूपी धोबी सच्चिदानन्द ब्रह्म रूपी जल में रहकर भी प्यासा
मरता है संसार का अनुभव करता है दूसरे स्थल में वे हंसते हुये कहते हैं—

पानी में मीन पियासी, मोही रह रह आवे हाँसी ।

मुझे यह सोचकर बार—बार हंसी आती है कि मछली पानी में ही
प्यासी है । जीव ब्रह्म में रहकर संसारी है ।

सुविज्ञ जनों का कथन है कि सचमुच जल में मीन प्यासी रहती
है । मीन के शरीर की बनावट कुछ ऐसी है कि जब तक वह जल में सीधी
तैरती रहती है तब तक उसके पेट में पानी नहीं जाता । पानी पीने के
लिये उसे उलटना पड़ता है । ठीक इसी प्रकार जीव की दशा है । जब
तक यह बहिर्मुख रहता है तब तक इसे आनन्द स्वरूप ब्रह्म का आत्मरूप
से हृदय में अवस्थित रहने पर भी भान नहीं होता । ब्रह्मानुभूति के लिये
इसे अन्तर्मुख होना आवश्यक है । ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर
एक प्रकार से हिंसा ही कर डाली है क्योंकि बहिर्मुखता के कारण ये पराक्
(बाह्य) को ही देख सकती है प्रत्यक् (सर्वाभ्यन्तर आत्मा) को नहीं । कोई

एक विषय विमुख जितेन्द्रिय ही तीव्र—मुमुक्षा से इन्द्रियों को लौटाकर प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है । इसी आशय की कठश्रुति है —

पराचिंखानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

अब प्रश्न उठता है कि आनन्दसिन्धु का बोध होकर कल्पित भव सिन्धु की निवृत्ति कैसे हो ? मानस कहती है—

नाम निरूपन नाम जतन ते,
सोउ प्रकटत जिमि मोल रतन ते ।

जैसे किसी को स्वप्न में घबराते चिल्लाते देखकर हम उसे नाम लेकर जगाते हैं, जागते ही उसका स्वप्न छूट जाता है उसी प्रकार राम नाम मोह—रात्रि में सोकर अनेक प्रकार का संसार स्वप्न देखने वाले प्राणियों को सहज प्रकाश स्वरूप परमार्थ ब्रह्म का दर्शन कराके जगाता है । हमारे अनेक दार्शनिक, आचार्य शब्द में अचिन्त्यशक्ति का अस्तित्व मानते हैं । वे कहते हैं ।

अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः

हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्तौ बोधिता परैः

अर्थात् वाच्य वाचक के सम्बन्ध को बिना ग्रहण किये ही सुषुप्ति में दूसरों के द्वारा जगाये जाने पर निद्रा छोड़कर जागते हुये लोगों को देखा ही जाता है । यह शब्द ही अचिन्त्यशक्ति है कि सोते हुये दस व्यक्तियों में से जिसका नाम लेकर पुकारा जाता है, वही जागता है । दूसरे सोते रहते हैं । यद्यपि गाढ़ निद्रा में इस विचार का तनिक भी अवसर नहीं है कि 'यह मेरा नाम है, मुझे पुकारा जा रहा है' । जब सामान्य शब्दों, नामों की यह स्थिति है, तो राम नाम की महिमा का क्या कहना ।

राम सकल नामन ते अधिका

होई नाथ खल अघ गन बधिका ।

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी,

सत चेतन घन आनन्दराशी ।

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी,
फिरहिं जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपन नाम जतन ते,
सोई प्रकटत जिमि मोल रतन ते ।

भगवान् भूतभावन विश्वनाथ इसी राम नाम का उपदेश देकर मरने वाले प्राणियों को मुक्ति का दान देते हैं ।

पेयं पेयं श्रवण पुटके रामनामाभिरामम्
ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम् ।
जल्पन् जल्पन् प्रकृति-विकृतौ प्राणिनां कर्णमूले,
वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोपि काशी-निवासी ।

अभिराम राम नाम का श्रवण पुटकों से निरन्तर पान करो । तारक ब्रह्म का मन में सतत चिन्तन करो । इस प्रकार मृत्यु के समय प्राणियों के कर्णमूल में कहता हुआ कोई काशी निवासी जटाधारी घूमता है ।

भगवान् शंकर के इस परम-पावन उपदेश का पालन हमें अपने जीवन काल में ही करना आरम्भ कर देना चाहिये ।

नवम प्रसून

गोस्वामी जी ने रामनामामृत का पान करने वाले सौभाग्यशालियों को धन्य बताया है । उनका एक बड़ा सुन्दर श्लोक है ।

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययम्
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिवन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ।

अर्थात् वे सुकृती धन्य हैं जो निरन्तर राम नाम रूपी अमृत का पान करते हैं । यह रामनामामृत एक विलक्षण अमृत है । यह भी समुद्र से ही प्रकट हुआ है, पर साधारण समुद्र से नहीं — इसका प्रादुर्भाव हुआ है वेदरूपी समुद्र से । कहा गया है ।

वेद वेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।

वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना ।

जब वेद वेद्य परम पुरुष का दशरथात्मज राम के रूप में प्रादुर्भाव हुआ, तब वेद के भी प्राचेतस का वाल्मीकि मुनि से रामायण के रूप में प्राकट्य हुआ । यह उस समय की बात है जब भगवान् राम ने सीता का परित्याग कर दिया और वे वाल्मीकि जी के आश्रम में आकर रहीं । सीता त्याग राम—चरित का एक दुःखमय अध्याय है । भगवान् श्रीराम अपनी प्रजा का पुत्रवत्सल पिता के समान पालन कर रहे थे । लोकाराधन ही उनका व्रत था, वे कहा करते थे—

स्नेहं दयाँच सौख्यंच, यदि वा जानकीमपि ।

आराधनाय लोकस्य, मुंचतो नास्ति मे व्यथा ।

स्नेह, दया और सौख्य अथवा प्राणाधिका जानकी का भी लोक का आराधन करने के लिये त्याग करते हुये मुझे व्यथा न होगी । रामराज्य में

सब लोग स्वधर्म में निरत थे, परस्पर सदभाव था —

सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म—निरत श्रुति नीती ।

बैर न कर काहू सन कोई, राम—प्रताप विषमता खोई ।

किन्तु एक बार परीक्षा का समय आया । भगवान् श्रीराम के गुप्तचर प्रतिदिन रात्रि में घूम-घूम कर प्रजा की गतिविधि और सुख दुःख का निरीक्षण करके भगवान् राम को उसकी सूचना दिया करते थे । एक दिन उन्होंने आकर बताया—प्रभो आज हम भ्रमण करते हुये एक घर के निकट गये, उसमें एक माता अपने पुत्र को दुग्धपान कराती हुई कह रही थी — वत्स, मेरे इस दुर्लभ दुग्ध का पान श्रद्धापूर्वक कर लो 'क्योंकि तुम राम की प्रजा हो अब न तो तुम्हारा पुनर्जन्म होगा और न तुम्हें किसी माता के दुग्ध पान का अवसर मिलेगा ।

किसी दूसरे गृह के पास कान लगाने पर हमें पति पत्नी के पांसा (चौपड़) खेलने की ध्वनि सुनाई पड़ी, पत्नी ने पांसा फेंकते हुये कहा, अबकी मेरी ही विजय होगी, उत्तर में पति बोला—नहीं अब तुम्हें यह अवसर नहीं मिल सकेगा । जन्म जन्मान्तरों से तुम्हारी विजय होती चली आ रही है । अब मैंने अयोध्या में राम के राज्य—काल में जन्म लिया है मेरा चरम—जन्म है । अब यह समय माया की विजय का नहीं—मुमुक्षु की विजय का है ।

किन्तु भगवान् यह सूचित करते हुये अत्यन्त दुःख हो रहा है कि एक रजक ने अपनी भार्या को डांटते हुये महारानी जानकी का नामोल्लेख करते हुये रावण के यहाँ रहते समय उनके शील पर शंका व्यक्त की है । उसको सुनकर हमारा हृदय व्यथित हो गया । भगवान् राम गम्भीर विचार में पड़ गये और उन्होंने सीता—त्याग का निश्चय कर लिया । कुछ लोग इसे राम की निर्बलता और अन्याय मानते हैं । कहा जाता है कि दो स्थलों में परम भक्त गोस्वामी तुलसीदास जी भी भगवान् राम से कुछ रुष्ट से प्रतीत होते हैं । एक तो वह अवसर है जब लक्ष्मण के कन्द—मूल—फल लाने के लिये आश्रम से बाहर जाने पर उनकी अनुपस्थिति में श्रीराम ने उनसे छिपाकर श्री जानकी को अग्नि में छिप जाने की आज्ञा दी—

सुनहु प्रिया व्रत रूचिर सुशीला,
 मैं कछु करब ललित नर लीला ।
 तुम पावक महँ करहु निवासा,
 जब लगि करउँ निशाचर नाशा ।

उनको लगा कि यहाँ एक अनन्य सेवक से कपट किया गया है ।
 लेखिनी ने करवट ली और लिख डाला—

चहुँ दिशि चितइ, सौँपि सब काहू,
 चले जहाँ रावण—शशि राहू ।

यहाँ भगवान् श्रीराम को 'रावण शशि राहू' कहा गया है जो विचारणीय है । दूसरा प्रसंग है उत्तर काण्ड का जिसमें चारों भाइयों की संतति का वर्णन है—

दुइ दुइ सुत सब भ्रातन केरे,
 भये रूप गुण शील घनेरे ।

अर्थात् अपरिमित गुण शील एवं स्वरूप से युक्त दो-दो पुत्र सब भ्राताओं के हुये । किन्तु जब लव—कुश के जन्म का उल्लेख करने का अवसर आया तब पिता के रूप में भगवान् राम का उल्लेख नहीं किया गया, यद्यपि भ्राताओं की सन्तान का वर्णन करते समय यह प्रसक्त था । सम्भव है सीता के प्रति निष्ठुर व्यवहार से क्षुब्ध होकर मातृ-भक्त तुलसीदास जी ने राम को लव—कुश का पिता कहलाने का अधिकारी न समझा हो । वे कहते हैं—

दुइ सुत सुन्दर सीता जाये,
 लव—कुश वेद पुराणन गाये ।

इतना सब होने पर भी विज्ञानों का कथन है कि सीता त्याग देखने में भले ही निष्ठुरता—पूर्ण क्यों न हो, परिणाम की दृष्टि से सुविचारित है ।

नीति प्रीति स्वार्थ परमार्थ,
 कोउ न राम सम जान जथार्थ ।

नीति, प्रीति, स्वार्थ और परमार्थ को राम के समान कोई भी यथार्थ रूप से नहीं जानता इस प्रसंग में चारों उदाहरण मिल जाते हैं—रजक का

दमन करने से प्रवाद फैलता है, घटता नहीं । एक रजक का मुख बन्द करने पर सहस्त्रों मुख खुल जाते, राजकर्मचारियों के द्वारा सीता की निर्दोषिता निष्कलंकता का प्रचार किये जाने पर विपरीत ही प्रभाव पड़ता । जनता इसको राजा की चाटुकारिता समझती । राज्याश्रित पुरोहित होने के कारण वसिष्ठ जी से भी यह कार्य नहीं हो सकता था । अतएव राम ने सीता को वाल्मीकि जी के आश्रम में भेजकर उनकी निर्दोषिता प्रमाणित करने का कार्य महातपा ऋषि के ऊपर छोड़ा और प्रजा की भावना का भी आदर किया, यह नीति है । जीवन में दूसरा विवाह धर्मार्थ भी नहीं किया, अश्वमेध यज्ञ में भी सीता की ही स्वर्णमयी प्रतिमा को ही स्थान दिया । सब प्रकार के भोगों का त्याग कर दिया यह प्रीति है । सीता के सतीत्व की परीक्षा सब के सन्मुख न होने से प्रजा के मन में लव-कुश राम के पुत्र हैं या और किसी के इस प्रकार की कुशंका का उदय होना सम्भावित था । किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा से युक्त ऋषि वाल्मीकि जी ने जब रामायण की रचना करके लव-कुश को पढ़ाया और उन्होंने राजसभा में जाकर वीणा के साथ सुस्वर में गान किया, तब अन्य सब घटनाओं के सत्य वर्णन के समान सीता के पतिव्रत की सत्यता का सबको सहज ही विश्वास हो गया । इससे लव-कुश की भावी साम्राज्य पद निष्कण्टक हो गया, यह स्वार्थ था । और यह उचित है कि मनुष्य पर्याप्त संतान उत्पन्न करके त्याग का जीवन बिताये, भोगों से विरत हो जाये, मरते समय तक भोग विलास में पड़े रहना सद्गति में सहायक नहीं है । भगवान् राम ने श्रीसीता के चले जाने पर भूमि पर सोना आदि तपस्वी की चर्या ग्रहण कर ली यह उनका परमार्थ था । इस प्रकार इसी एक घटना से भगवान् श्रीराम की नीति, प्रीति, स्वार्थ, परमार्थ सम्बन्धी अभिज्ञयता सिद्ध हो जाती है । भगवान् श्रीराम की प्रीति का एक और निदर्शन है, अशोक वाटिका में श्री हनुमान जी के द्वारा श्री जानकी जी को सान्त्वना देते हुये कहा जाना—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा ।

सो मन सदा रहित तोहि पाहीं, जान प्रीति रस इतनेहु मांहीं ।।

मेरे और तुम्हारे प्रेम के तत्त्व को केवल मेरा मन ही जानता है और

वह सदा तुम्हारे पास ही रहता है, इतने से ही प्रीतिरस समझ लो । इसमें कई भाव हैं—प्रेम की अगाधता, अनिर्वचनीयता, गोपनीयता, व्याकुलता आदि के साथ—साथ इस उक्ति से यह भी प्रगट हो जाता है कि सीता राम की आत्मा ही हैं । आत्मा को छोड़कर अन्य के साथ मन का नित्य योग हो ही नहीं सकता । आत्मभाव या अभेदानुभूति ही प्रेम की पराकाष्ठा है । अस्तु संयोग से जिस दिन गुप्तचरों से रजक का आक्षेप श्रीराम ने सुना, उसी दिन अन्तर्वत्नी श्री जानकी जी ने भी पूछे जाने पर अपना दोहद सुनाया—यदि आर्य पुत्र की आज्ञा हो तो जिस प्रकार वनवास के समय ऋषियों—मुनियों के आश्रमों में उनके दर्शन किये थे उसी प्रकार पुनः उनके पवित्र दर्शन करूँ । श्री राम ने श्री सीता की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और लक्ष्मण को आदेश दिया कि श्री सीता को वन में छोड़कर आ जाओ । लक्ष्मण जी ने दुःखित हृदय से राजा राम की इस निष्ठुरता पूर्ण आज्ञा का पालन किया । वाल्मीकि आश्रम के निकट सरिता तट पर रथ से श्री जानकी को उतारकर श्री लक्ष्मण माँ के चरणों में गिरकर फूट—फूटकर रोने लगे और भरित—हृदय से राम की आज्ञा सुनाई श्री जानकी जी ने भी यह वज्राघात झेलते हुये राजा राम को सन्देश सुनाने का लक्ष्मण से अनुरोध किया—

**वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वहनौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य वैतत्सदृशं कुलस्य ।**

अर्थात्—लक्ष्मण ! मेरे वचनानुसार तुम राजा राम से पूछना की अपने समक्ष अग्नि परीक्षा के द्वारा विशुद्ध मेरा आपके द्वारा लोकोपवाद श्रवण मात्र से त्यागा जाना आपके श्रुत के सदृश है अथवा कुल के । जिसकी निर्दोषता में न्यायाधीश स्वयं प्रमाण हो उसी न्यायाधीश के द्वारा उसको दण्डित किया जाना क्या न्याय की विडम्बना नहीं ? किन्तु ज्यों ही उनका ध्यान श्रीराम के स्वभाव के ओर गया, वे बोलीं—

कल्याण बुद्धेरथवा तवायम् न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।

ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ।

अथवा आप तो कल्याण बुद्धि हैं । आपका यह मेरे ऊपर कामचार है

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, यह तो मेरे ही जन्मजन्मांतरों के संचित पापों का परिणामरूप है, वज्रनिर्घात है ।

यह कहकर उन्होंने अपना पवित्र निश्चय सुनाया—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टेरुद्धर्व प्रसूतेश्वरितुं यतिष्ये

यतोहि भूयः जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ।

अब मैं प्रसूति के अनन्तर सूर्य की ओर दृष्टि करके तप करने का यत्न करूंगी जिससे जन्मजन्मांतर में भी आप ही मेरे पति हों पर वियोग न हो । लक्ष्मण ने सीता का यह सन्देश नीचा सिर किये सुना और हृदय को कठोर बनाकर श्री जानकी जी की आज्ञा लेकर अयोध्या लौट गये । अब सीता जी का धैर्य टूट गया । वे करुणाक्रन्दन करने लगीं । उनके इस विलाप ने महर्षि वाल्मीकि का ध्यान आकृष्ट किया । वे तत्काल उस स्थल पर पहुँच गये जहाँ श्री जानकी जी दुःखावेग से अपना देह सरिता में विसर्जित करने को उद्यत हो रहीं थीं । वाल्मीकि जी के द्वारा सान्त्वना देकर पूछे जाने पर उन्होंने अपना परिचय देते हुये श्रीराम के द्वारा त्यागे जाने का संवाद सुनाया । यह सुनकर वाल्मीकि जी थोड़े हिचके, किन्तु उसी समय आकाशवाणी सुनाई पड़ी “सीता निष्कलंक है, संदेह मत करो।” मुनि ने उन्हें अपने आश्रम में आश्रय दिया । पुत्री के समान वात्सल्य से सीता की रक्षा करने लगे सीता के करुणाक्रन्दन को सुनकर उनके हृदय में शोक सागर तो उमड़ ही रहा था, एक दिन जब वे तमसा के तट पर प्रातः कृत्य के लिये गये, तब उन्होंने देखा — वृक्ष की शाखा में स्थित काम—मोहित क्रौंच पक्षी के जोड़े में से नर को किसी व्याध का बाण लगा और वह भूमि पर गिर पड़ा । उस समय क्रौंची के करुणाक्रन्दन ने वाल्मीकि जी को सीताजी का स्मरण करा दिया । उनका शोकाब्धि उच्छलित होकर श्लोक के रूप में परिणित हो गया —

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः

यत्क्रौंचमिथुनादेकमबधीः काममोहितम् ।।

अरे निषाद! तू सैकड़ों वर्ष तक प्रतिष्ठा को मत प्राप्त हो, जो तूने काम मोहित क्रौंच मिथुन में से एक को मार डाला । उसी समय ब्रह्मा जी

ने प्रगट होकर वाल्मीकि जी से कहा वत्स यह तुम्हारा आदिकाव्य है, तुम रामायण की रचना करो । आज्ञा शिरोधार्य हुई, यही श्लोक रामायण का मंगलाचरण बना । हे मा निषाद—लक्ष्मी निवास राम, तुम सहस्त्रों वर्ष प्रतिष्ठा प्राप्त करो जो क्रौंच मिथुन (मन्दोदरी रावण) में से एक काम मोहित रावण का तुमने वध कर डाला ।

रामायण का सौ करोड़ श्लोकों में निर्माण हुआ । देवता, दानव और मनुष्यों में उसके लिये विवाद चल पड़ा । भगवान् शंकर पंच बनाये गये । तैतीस—तैतीस करोड़ तीनों को बांट दिया । शेष एक करोड़ में से तैतीस—तैतीस लाख बांट दिया गया एक लाख का तैतीस—तैतीस सहस्त्र में वितरण कर दिया । एक सहस्त्र को तीन—तीन सौ में बांट दिया अब सौ श्लोक बचे उनका भी तैतीस—तैतीस में विभाग हो गया । अन्त में बत्तीस अक्षर के एक अनुष्टुप छन्द में से दस—दस अक्षर प्रत्येक को दिये गये । शेष दो दो अक्षर रकार मकार, 'राम' को परिश्रम के रूप में महेश ने ग्रहण किया । इस प्रकार वेदावतार रामायण समुद्र के देवता, दानव और मनुष्यों के द्वारा मथे जाने पर शिव को राम नामामृत की प्राप्ति हुई । इस मंथन में शिव को विष न मिलकर अमृत मिला । जिसप्रकार उस अमृत के लिये देवों, असुरों में कलि (कलह) हुआ था उस प्रकार का कलि रामनामामृत के लिये नहीं होता । यह तो कलिमल प्रध्वंसनम् कलिमल का नाशक है । प्राकृत अमृत तो पीने से घटता है किन्तु यह अव्यय क्षय रहित है । यदि उसका चन्द्रमा में निवास है तो यह भी शम्भु के मुख चन्द्र में सदा संशोभित रहता है । यदि वह औषधियों का स्वामी होकर रोगों को दूर करता है तो यह संसार रोग का महौषध है । वह विरही जनों के लिये दुःखद है—

विष संजुत कर निकर पसारी, जारत विरहवन्त नर नारी ।

किन्तु यह सब के लिये सदा सुखकर है । श्री जानकी जी का तो यह जीवन ही है ।

जेहि बिधि कपट कुरंग संग, धाई चले श्रीराम ।

सोई छवि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम ।

हनुमान् जी के शब्दों में—

नाम पाहरू दिवस निशि, ध्यान तुम्हार कपाट ।

लोचन निज पद जन्त्रित, प्रान जाहिं केहि बाट॥

इन दोहों में बताया गया है कि किस प्रकार प्रतिक्षण निकलने को उद्यत सीता के प्राणों को बचाने के लिये राम नाम उनके मुख पर पहरा देते थे । अतः यदि अमृत प्राप्त करना हो तो निरन्तर निष्ठा पूर्वक नाम का सेवन करना चाहिये ।

भगवान् शिव इसी मन्त्र का, राम नाम का, उपदेश काशी में निरन्तर घूम-घूम कर प्रत्येक मरणासन्न व्यक्ति के कान में दिया करते हैं । इसी कारण काशी में प्राण त्यागने वालों को मुक्ति मिलती है । कहा जा सकता है कि अन्यत्र भी रामनाम सुनाया जा सकता है, क्या वहाँ भी इससे मुक्ति हो सकती है ? उत्तर भी स्पष्ट है । अजामिल तो अपने पुत्र 'नारायण' का नाम लेने मात्र से तर गया । गणिका भी तोते को पढ़ाने से तर गई । अतः यह नाम-मन्त्र तारक है ही किन्तु किसी विशेष स्थान पर विशेष व्यक्ति द्वारा कहे गये शब्द और किये गये कर्म विशेष महत्त्व के होते हैं । बीज जहाँ कहीं किसी भी व्यक्ति द्वारा छींट दिये जाने पर उग सकता है, किन्तु वही अच्छे बने हुये खेत में किसी विशेषज्ञ द्वारा बोया जाने पर केवल उगता ही नहीं है अपितु सत्फल भी देता है । अच्छी पैदावार होती है । काशी भगवान् भोलेनाथ के त्रिशूल पर बसी हुई नगरी है, गंगा का तट है, राम मन्त्र स्वयं शिव को सिद्ध है । इस स्थल पर शिव द्वारा राममन्त्र मिलता ही है । इसलिये "काश्यां मरणात् मुक्तिः" कहा गया है ।

जो मरते समय उच्चारण किये जाने पर मुक्ति देता है, वही जीवन काल में जीवन की रक्षा करता है । भगवती सीता कैसे जीवित रहतीं यदि नाम का सम्बल न होता, उनके प्राण न निकलने की गोस्वामी ने बड़ी-बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ की है ।

प्रभु का नाम किसी भी भाव से लिया जाय मंगलकारी ही है । पारसमणि का स्पर्श यदि भूल से भी हो जाये तो भी लौह स्वर्ण बन जाता है । रावण आदि दैत्यों ने वैरभाव से भजा, फिर भी उनकी मुक्ति हुई, सुतीक्ष्ण, गृद्ध, अजामिल आदि ने भक्तिभाव तथा अतिभाव से, उन्होंने

कल्याण ही किया । भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम का अभेद माना जाता है, इन चारों का ही चिन्तन कल्याण कारक है । चाहे वह रीझ या खीझ किसी भी प्रकार से किया जाये—

**तुलसी अपने राम को रीझ भजो या खीझ,
भूमि पड़े बियु जामिहै उल्टा पड़े की सीध ।**

कुछ कवियों ने तो खीझवश भी उनका नाम बड़े आनन्दप्रद ढंग से लिया । गोपियों के गोपी गीत प्रसंग में रीझ खीझ दोनों के उदाहरण हैं—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।

श्रवण मंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ये भूरिदाजनाः ।।

अर्थात् हे प्रभो कवि गण कहते हैं कि आपकी कथा अमृत के सदृश है संतप्त जीवन वालों के लिये, यह समस्त पापों को दूर करने वाली है, सुनने मात्र से कल्याण करने वाली है, शोभा और आनन्द से परिपूर्ण है, वे लोग जो आपकी कथा को सुनते हैं मानों पृथ्वी पर बहुत बड़ा दान करते हैं । इसी का व्यंग्यार्थ इससे बिल्कुल भिन्न होगा । वाम्यभावयुता गोपांगनाओं की दृष्टि में इसका अर्थ है—हे प्रभो आपकी कथा कथा नहीं, अमृत है । तपे हुये तबे पर जैसे जीवन अर्थात् जल डाला जाय तो उससे लपटें निकलती हैं, उसी प्रकार यह भी तप्त जीवन में जल के समान हृदय को संतप्त करने वाली है । उल जलूल बकने वाले कल्पना प्रधान कवि लोगों द्वारा गाई गयी है । अर्थात् जान लेने पर कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इसका नाम न लेगा । यह हमारे हृदयों में केवल कल्मष क्लेश ही उत्पन्न करती है, केवल सुना जाता है कि यह कल्याणकारी है । अथवा वह सुनने भर में अच्छी लगती है, कल्याण करती नहीं है, क्योंकि इसे सुनने से कष्ट ही होता है । श्रीमान् लोगों ने इसे व्यर्थ में ही फैला रखा है । यह तो लक्ष्मी के मद से भरी हुई है और जो लोग इसका प्रचार करते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं । इस उलाहना में व्यंग्यार्थ का अभिप्राय है कि भगवत् कथा के श्रवण से सारे सांसारिक बन्धन मृतप्राय हो जाते हैं । और भगवान् को छोड़कर अन्यत्र विकलता ही होती है अथवा प्रभु से मिलने के लिये प्राण आतुर हो उठते हैं । इसी प्रेम की तरंग में एक भक्त भगवान् को डाकू

कहता है । वह कहता है कि—

मा यात् पन्थाः । पथि भीमरथ्याः
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूर्तः समाकर्षति चित्तवित्तम् ।

अर्थात् हे पथिकों! इस भयानक मार्ग से आप लोग मत जाओ । इस मार्ग पर एक डाकू रहता है जो तमाल के सदृश श्यामल रंग का है । वह कुछ न तो पहने है और न हाथ में कोई अस्त्र शस्त्र लिये है, यहाँ तक कि वह अपने नितम्ब फलकों (कमर) पर दोनों हाथ रखकर खड़ा रहता है । हाथ पांव भी नहीं डुलाता, फिर भी ऐसा धूर्त है कि उधर से जाने वालों के हृदय रूपी धन को खींच लेता है । यहाँ पर व्याज स्तुति के माध्यम से महाप्रभु के सौन्दर्यातिशय का निरूपण है । जिसकी छटा की एक रेखा—झलक मात्र से मनुष्य स्वयं उसके चरणों में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है । जो एक बार उसका दर्शन पा गया, फिर दूसरी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता है ।

जिनके मन में प्रभु पर आस्था नहीं, दृढ़ विश्वास नहीं, वे भगवान् को हर छोटी-छोटी बात पर तौलने की चेष्टा करते हैं । जिसमें विश्वास अडिग रूप से है, वह तो अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है, किन्तु प्रति फल नहीं चाहता । अधिकचरे विश्वास करने वाले लोगों की दशा भी विचित्र है । वह रात्रि के अन्धेरे में एकान्त मार्ग से जाते समय एक कुत्ते को देखता है, डरता है, और कहता है यदि कुत्ता नहीं भौंका तो भगवान् हैं और यदि भौंका तो नहीं हैं । कुत्ता तो इसकी भयभीत मुद्रा और चाल को देखकर अवश्य ही भौंक देगा, वैसे चाहे नहीं भी भौंकता । अब उसके लिये भगवान् नहीं रहे । किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जो भक्त हैं उनके लिये बस एक प्रभु ही हैं । उनका ध्यान कुत्ते की ओर जाता ही नहीं । वह तो उसमें भी परमेश्वर का दर्शन करता है । फलतः उसे कोई डर नहीं लगता । इसके आश्चर्यभाव से गमन को देखकर कुत्ता भौंकता भी नहीं । यदि कभी भगवान् ने भक्त को कष्ट में देखा तो कुत्ते का ही

नहीं, सारे विश्व का मुख बन्द कर दिया, तिनके को पर्वत और पर्वत को तिनका बना दिया। प्रह्लाद के लिये लोहस्तम्भ से प्रगट हुए, उनके लिए पर्वत फूल हो गये, होलिका की अग्नि शीतल चन्दन हो गयी, मीरा का विष अमृत हो गया और काला नाग हो गया शालिग्राम। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु के मार्ग में कितने ही हिंसक जीव आ आकर कृतार्थ होते थे उनका दर्शन लाभ होने से। प्रह्लाद का विश्वास था कि भगवान् सर्वव्यापी हैं न कि यह भाव कि यदि भगवान् सत्य होंगे तो बचूंगा, अन्यथा मर जाऊँगा। रामचरित मानस में भी कहा है कि देवताओं ने क्षीर सागर में जाकर विष्णु भगवान् को अपना दुःख सुनाना चाहा था, किन्तु भगवान् शंकर के बताने पर कि—

प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम ते प्रकट होहिं भगवाना ॥

सबने सम्मिलित प्रार्थना की और प्रभु प्रकट हुये। यदि प्रभु प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी छोटी छोटी इच्छाओं पर प्रगट होने लगे तो वह सर्वसमर्थ ही नहीं अपितु सबके आज्ञाकारी सेवक भी हो जायेंगे वह तो सर्वव्यापी हैं अतः उनको कहीं किसी भी रूप में प्रगट होने में कष्ट नहीं होगा। किन्तु दुर्बुद्धि मानव यह नहीं निश्चय कर सकेगा कि वह क्या क्या कराये, क्योंकि कामनाएं मनुष्य की बुद्धि को सुस्थिर नहीं रहने देती। कथा है कोई कुम्हार अपनी बेटियों को देखने गया। दोनों का एक ग्राम में ही विवाह हुआ था। एक के घर में खेती होती थी, दूसरी के घर में घड़े बनाये जाते थे। कुम्हार ने किसान बेटी से कुशल क्षेम पूछा। वह बोली, पिता जी फसल आई खड़ी है केवल एक बार वर्षा हो जाती तो फसल पक जाती। कुम्हार ने भगवान् से वर्षा करने के लिये प्रार्थना की। इसके पश्चात् ही वह दूसरी बेटी के पास गया और उससे भी कुशल पूछा। उसने कहा—हमने बड़े परिश्रम से घड़े बनाकर आँवा तैयार किया है, आज ही उसमें आग दी है। मेघ छाये हैं यदि वर्षा हो गई तो सब कुछ चौपट हो जायेगा। अब कुम्हार भगवान् से वर्षा न करने के लिए प्रार्थना करने लगा। ऐसे लोगों के किस मनोरथ को प्रभु पूरा करें, किसको नहीं यह विचारणीय है। आसुरी सम्पत्ति बढ़ने पर ऐसे ही लोगों में शक्ति की होड़

लगती है और वे हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष, रावण, कुम्भकर्ण आदि राक्षसों के समान विचित्र—विचित्र वरदान माँगकर जगत् को पीड़ित करते हैं ।

नाम लेने वाले नये नये भक्त भी जो साधना प्रारम्भ करते हैं देखना और दिखाना चाहते हैं कि उनमें कुछ आलौकिक शक्ति आ गयी है । वे कुछ जादुगरों सी आश्चर्यमयी चीज कर दिखाने की चेष्टा करते हैं । जब नहीं हो पाता है तो अनास्थावादी बन जाते हैं । यह भी ठीक नहीं क्योंकि यह साधना प्रभु के लिये न होकर सिद्धियों के लिये हो जाती हैं । सिद्धियाँ सिद्ध होने पर मिलती हैं । मात्र ढोंग रचने से नहीं । सत्य बात यह है कि यदि अनाज को खेत में बोया जाये और बीज को सभी आवश्यक पदार्थ देने के साथ प्रतिदिन कुरेद—कुरेद कर देखा जाये कि जड़ें फूटी की नहीं तो वह बीज—बीज ही रह जायेगा न पौधा उगेगा और न फल मिलेगा । इसीप्रकार दस बार भी राम का नाम जपें भी नहीं और देखने लगे उसका प्रभाव । इससे तपस्या ही क्षीण होती है, कुछ उपलब्धि नहीं होती ।

विश्व में न जाने कितने ब्रह्माण्ड हैं उनमें से कुछ ही पृथ्वियाँ हैं जिनमें बहुत से मनुष्य हैं, उन मनुष्यों में से कुछ ही सिद्धि के लिये उन्मुख होते हैं । इन उन्मुख होने वालों में कुछ ही लोग साधना में अन्त तक लगते हैं और उनमें कुछ ही लोग बहुत—बहुत जन्म—जन्मान्तरों में प्रभु के चरण कमलों की सुवास पाते हैं । अतः धैर्यपूर्वक बिना कालक्षेप किये हुये जीव को चाहिये कि वह प्रभु के नाम का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा उनको प्राप्त करने की चेष्टा करे । उतावलापन बावलापन है । भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने कहा है—

तुलसीदास यह चिदविलास जग बूझत बूझत बूझै

अतः हे मनुष्यों, उठो, जागो संसार स्वप्न तथा मोह निद्रा को त्यागो । श्रेष्ठ पुरुषों, सन्तों की खोज उनके श्रीचरणों में बैठकर अपने को जानो और कृतकृत्य हो जाओ । भगवती श्रुति पुकार रही हैं —

उत्तिष्ठत् ! जाग्रत ! प्राप्य वरान् निबोधत् ।।



परिशिष्ट

सदुपदेश

अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर एवं

द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज

प्रवचन-प्रसून (७८)

श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक का दार्शनिक-प्रवचन

समुपस्थित विद्वद्वृन्द, देवियो-सज्जनो !

जब जीव के जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर के पुण्यों का उदय होता है, तब उसको सत्संग मिलता है। उसमें भी श्रीमद्भागवत की कथा का श्रवण और अधिक पुण्यों का फल है। कहा है-

जन्मान्तरे यदा पुण्यं तदा भागवतं लभेत् ।

(श्रीमद्भा.माहात्म्य१/१२)

जब अनेक जन्मों के पुण्य सम्मुख होते हैं, तब प्राणी को श्रीमद्भागवत की प्राप्ति होती है। इसके चार अक्षर हैं—भा ग व त ।

भाति सर्वेषु वेदेषु गतिर्यस्य दुरत्यया ।

वरिष्ठः सर्वशास्त्रेषु तत्त्वं परं योगिनाम् ॥

(श्रीमद्भा.माहात्म्य)

भागवत क्या है ? भगवान् का तत्त्व । समस्त वेदों में यही तत्त्व प्रकाशित होता है। 'गतिर्यस्य दुरत्यया' और जिसकी अवगति, जिसका अनुभव बड़ा ही कठिन है। इसका प्रतिपादक जो शास्त्र है - 'वरिष्ठः सर्वशास्त्रेषु' वह सब शास्त्रों में वरिष्ठ है और 'तत्त्वं परं योगिनाम्' योगियों का यह परम तत्त्व है।

श्रीमद्भागवत पारमहंस्य संहिता है अर्थात् परमहंसों की संहिता है। श्रीशुकदेवजी महाराज इसके प्रवक्ता हैं। वे एक परमहंस थे। उनके सम्बन्ध में कथा आती है कि वे माता के उदर में जब आये तो वर्षों बीत गये, माता के उदर से बाहर निकले ही नहीं। व्यासजी ने पूछा - 'बालक ! माता के उदर में ही बैठे रहोगे ! बाहर क्यों नहीं आते ?' तो उन्होंने कहा - 'मैं बाहर आऊँगा तो माया मुझे मोहित कर लेगी। गर्भ में मुझे अपने अनेक जन्मों का ज्ञान है। इसीलिये मैं यहीं

बैठा भगवच्चिन्तन कर रहा हूँ ।’

व्यास जी ने आग्रह किया - ‘नहीं, तुम बाहर निकलो ।’ वे बोले - ‘एक ही शर्त पर मैं बाहर निकल सकता हूँ । यदि साक्षात् भगवान् शङ्कर आकर मुझे दीक्षा प्रदान करें ।’ व्यासजी ने भगवान् शङ्कर से अनुरोध किया और उन्होंने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया । सोलह वर्ष तक माता के उदर में रहने के बाद शुकदेवजी माता के उदर से बाहर निकले । निकलते ही भगवान् शङ्कर ने उनको उपदेश दिया और वे विरक्त होकर निकल पड़े ।

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यम् ।

(श्रीमद्भागवत १/२/२)

विना उपनयन संस्कार के ही, समस्त कर्मों का परित्याग करके बालक संन्यास लेने चल पड़ा । श्रुति कहती है-

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः ।

(महानारायणोपनिषद् ८/१४)

न कर्म से, न प्रजा से और न धन से परमात्मा की प्राप्ति होती है, परमात्मा की प्राप्ति होती है तो त्याग से ही - ‘त्यक्त्वैव हि तज्ज्ञेयम्’।

अतः उन्होंने सर्व कर्मों का परित्याग स्वीकार किया और संन्यास ग्रहण कर लिया । ‘सम्यक् न्यास’ जो सम्यक् प्रकार का न्यास अर्थात् त्याग है, उसी का नाम संन्यास है ।

त्यक्ता का जो प्रत्यक् परम पद है, त्याग करते-करते ही वह जाना जा सकता है । श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासजी ने देखा कि बालक ने जन्म तो ले लिया, लेकिन जन्म लेते ही संन्यासी बनकर निकल पड़ा । ‘हा पुत्र! हा पुत्र!’ कहते हुए वे अपने पुत्र को मनाने के लिये पीछे-पीछे चले । पुत्र ने मुड़कर भी नहीं देखा । गहन-वन में प्रवेश कर लिया । वहाँ पर शुकदेवजी ने तो उनके पुकारने का कोई उत्तर भी नहीं दिया परन्तु ‘तन्मयतया तरवोभिनेदुः’ वे तो सर्वभूतात्मा थे । उनकी ओर से वृक्षों ने उत्तर दिया - ‘हा पुत्र ! अर्थात् जो अज्ञानी है, वही पुत्र होता है । अतः व्यास जी आप पुत्र हो, ये पुत्र नहीं हैं ।’ व्यासजी लौट पड़े । उसके बहुत पश्चात् भगवान् की कथा से शुकदेव का हृदय आकृष्ट हुआ और फिर वे श्रीमद्भागवत की कथा सुनने के लिये व्यासजी के पास आये ।

श्रीशुकदेवजी महाराज परमहंस हैं। इसीलिये यह श्रीमद्भागवत 'पारमहंस्य संहिता' कहलाती है। इसमें एक अमल परम-तत्त्व का ही गुण गाया गया है। इस श्रीमद्भागवत का श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास ने प्रणयन किया।

हमारी भारतीय संस्कृति का यह नियम है कि कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाय तो उसके पहले मङ्गलाचरण किया जाता है। अपने इष्ट देवता का स्मरण करके जब किसी कार्य को प्रारम्भ किया जाता है तो वह कार्य निर्विघ्न पूर्ण होता है। इतने बड़े ग्रन्थ का प्रणयन किया जा रहा है तब मङ्गलाचरण तो करना ही था।

मङ्गलाचरण तीन प्रकार का होता है - एक होता है प्रणामात्मक, दूसरा होता है आशीर्वादात्मक और तीसरा होता है स्मरणात्मक। यह जो मङ्गलाचरण है वह स्मरणात्मक है। अपने इष्ट देवता का मङ्गलाचरण में व्यास जी ने स्मरण किया।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोमृषा

धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

(श्रीमद्भागवत १/१/१)

व्यासजी बोले - 'सत्यं परं धीमहि' हम परम सत्य का ध्यान करते हैं। **धीमहि** शब्द का प्रयोग किया। धीमहि शब्द वैदिक व्याकरण के अनुसार है। गायत्री में धीमहि आता है। धीमहि शब्द का प्रयोग करके मानो व्यासजी ने यह प्रकट किया कि 'यह साक्षात् गायत्री रूप है।' धीमहि की अगर हम लौकिक व्याकरण के अनुसार व्याख्या करें तो धीमहि का अर्थ होता है - 'ध्यायेम'। हम उनका ध्यान करते हैं। ध्यायेम में बहुवचन है और ध्यान करने वाले अकेले व्यास हैं। श्रीधर स्वामी, जो भागवत के अच्छे टीकाकार माने जाते हैं, उन्होंने कहा - 'बहुवचनं शिष्याभिप्रायेण' अपने शिष्यों के अभिप्राय से उन्होंने बहुवचन का प्रयोग किया। अर्थात् हम शिष्यों सहित उस परम सत्य का ध्यान करते हैं। वह परमसत्य क्या है?

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्जायते न तु प्रतिज्ञामात्रेण।

लक्षण और प्रमाण के द्वारा वस्तु की सिद्धि होती है केवल प्रतिज्ञा मात्र से

नहीं होती है । लक्ष्य कौन है ? वह परमतत्त्व, परम सत्य, जिसका हम ध्यान कर रहे हैं । उसी का लक्षण करना है ।

किसी भी वस्तु के लक्षण दो प्रकार के होते हैं । एक होता है तटस्थ लक्षण और दूसरा होता है स्वरूप लक्षण । लक्षण उसको कहते हैं जो केवल लक्ष्य में ही रहे । **‘लक्ष्यैकमात्रवृत्ति’** लक्षण ही **‘सल्लक्षण’** माना जाता है । उदाहरण के लिये समझ लीजिये - आप ‘गौ’ का कोई लक्षण करें - **‘गोर्लक्षणं किं’** अर्थात् गौ का क्या लक्षण है ? एक सज्जन खड़े हो गये । उन्होंने कहा - **‘शृङ्गित्वं गोर्लक्षणं’** जिसको सींग है, वह गाय है । यह लक्षण तो है, लेकिन अतिव्याप्ति दोषयुक्त हो गया, क्योंकि सींग तो भैंस के भी होती है, बकरी के भी होती है । यह लक्षण गाय से अतिरिक्त अन्य प्राणियों में भी चला गया । इसीलिये अतिव्याप्ति दोष से युक्त होने के कारण यह लक्षण सल्लक्षण नहीं है । दूसरे सज्जन खड़े हुए । वे बोले - **‘एकशफवत्त्वं गोर्लक्षणं’** जिसकी एक खुर हो वह गाय है । यह बिलकुल असम्भव है । गाय के दो खुर होते हैं । इसीलिये इसमें असम्भव दोष है । फिर तीसरे ने कहा - **‘कपिलात्वं गोर्लक्षणं’** जो कपिला है, वह गौ है । **‘कपिलात्वं गोर्लक्षणं’** यह कपिला गाय के लक्षण में चला जायेगा लेकिन जो श्यामा गौ है, उसमें तो लक्षण नहीं जायेगा । यहाँ अव्याप्ति हो गयी । **‘लक्ष्यैकदेशवृत्तित्वमव्याप्तिः’** । लक्ष्य के एक देश में रहना अव्याप्ति है । फिर किसी विद्वान् ने कहा - **‘सास्नादिमत्त्वं गोर्लक्षणं’** जिसके गले में सास्ना हो वह गाय है । यह सल्लक्षण हो गया क्योंकि गाय मात्र में सास्ना होती है और अन्य पशुओं में सास्ना नहीं होती ।

ऐसे ही ब्रह्म का लक्षण होना चाहिये । जो केवल ब्रह्म में ही जाय । ब्रह्म से इतर और कहीं सम्बन्धित न हो । पहले तटस्थ लक्षण के द्वारा ब्रह्म को व्यासजी ने लक्ष्य करने का प्रयास किया । **‘जन्माद्यस्य यतः’** यतः अस्य जन्मादि । **यतः** माने जिस परमात्मा से **‘अस्य विश्वस्य जन्मादि उत्पत्ति-स्थिति-संहारा भवन्ति’** अर्थात् जिस परमात्मा से इस जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, वह परम सत्य है, वही ब्रह्म है । **‘जन्माद्यस्य यतः’** इसमें श्रुति भी प्रमाण है - **‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति’** (भस्मजाबालोपनिषद् २/५) माने जिससे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न

होकर जिसमें रहते हैं और अन्त में जिसमें विलीन हो जाते हैं, वह परमात्मा है। इसी रूप में श्रुति में भी है - 'तज्जलानीति शान्तमुपासीत्' उस परमात्मा का शान्त होकर अपने हृदय को सम बनाकर उपासना करें। इस प्रकार जो जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार का कारण है, उस परमात्मा को हृदय में समाहित करके ध्यान करें - 'शान्तमुपासीत्'। यह लक्षण ब्रह्म में कैसे घटता है ? बोले - 'अन्वयादितरः' 'कार्येषु अन्वयाद्' और 'अकार्येषु इतरतः व्यतिरेकात्' जो परमात्मा से उत्पन्न है, उसमें परमात्मा का अन्वय है और जो परमात्मा से उत्पन्न नहीं हुआ है उसमें परमात्मा का व्यतिरेक है। परमात्मा का सबमें अन्वय है।

आप यह समझ लीजिये कि पाँच प्रकार से वस्तु को हम जानते हैं - अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप। 'अस्ति' माने 'है'। 'भाति' माने 'प्रतीत होता है'। 'प्रिय' माने 'प्रियता है' उसमें। उसका कोई 'नाम' और 'रूप' है। पाँच प्रकार से ही संसार की प्रत्येक वस्तु का अनुभव होता है। अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप। हम यह देखते हैं कि नाम और रूप में तो अन्तर हो जाता है। लेकिन अस्ति, भाति और प्रिय इन तीन में अन्तर नहीं होता। तीनों सर्वत्र एक से मिलते हैं। अब आप समझ लीजिये कि यह वृक्ष है। इसका भान होता है। वृक्ष प्रिय है। वृक्ष नाम है। वृक्ष रूप है। अब उस वृक्ष को काट दिया जाय तो उसकी संज्ञा हो गयी - लकड़ी। अब हम क्या कहेंगे ? लकड़ी है। लकड़ी का भान होता है। लकड़ी प्रिय है, लकड़ी नाम है और लकड़ी रूप है। अब उस लकड़ी से किसी ने मेज बना दी। अब हम क्या कहेंगे ? 'मेज है'। मेज का भान होता है, मेज प्रिय है। मेज नाम एवं रूप। वह मेज जीर्ण-शीर्ण हो गयी। हमने उसको जला दिया। कोयला बन गया। अब हम क्या कहेंगे? कोयला है। कोयले का भान होता है, कोयला प्रिय है। कोयला नाम है और कोयला रूप है। कोयले को भी सिगड़ी में जला दो। बची उसकी राख। तो कहेंगे कि राख है। राख का भान होता है, राख प्रिय है, राख नाम और राख रूप।

अब देखो ! लकड़ी से लेकर राख तक नाम-रूप बदलते गये, लेकिन अस्ति, भाति, प्रिय का सबमें अन्वय है। इसी तरह से हम दूसरे-दूसरे पदार्थों को लें। कहीं पर आप देख लीजिये - यह पुस्तक है, यह घड़ी है। सबके साथ होना लगा हुआ है। मालूम पड़ना भी सबके साथ लगा हुआ है। प्रियता लगी है - पर

नाम व रूप अलग है। पुस्तक का नाम अलग, घड़ी का नाम अलग और रूप भी अलग-अलग है। अस्ति का अर्थ होता है - 'सत्' और भाति का अर्थ होता है 'चित्' तथा प्रिय उसको कहते हैं, जिसमें आनन्द हो। सत्-चित् आनन्द का सर्वत्र अन्वय है। इसलिये सारा विश्व प्रपञ्च उसी सच्चिदानन्द से उत्पन्न हुआ है, यह सिद्ध हो जाता है। 'अन्वयाद्' और जो उससे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसमें अस्ति नहीं लगता है। बन्ध्या का पुत्र है, ऐसा कोई कहेगा? इसी तरह आप खरगोश की सींग, आकाश-कुसुम। पूछो, है ही नहीं। ये सभी अकार्य हैं। ये उत्पन्न हुए ही नहीं। इसलिए उनमें अस्ति, भाति, प्रिय का अन्वय न होने के कारण परमात्मा का इसमें अन्वय नहीं है। इसीलिये स्थिर नहीं है और अस्ति, भाति, प्रिय का जिनमें अन्वय है, वे परमात्मा के कार्य हैं। इस प्रकार जो सबका कारण है 'कार्येषु अन्वयात् अकार्येषु व्यतिरेकात्।' अर्थात् कार्यों में अन्वय होने के कारण और अकार्यों में व्यतिरेक के कारण उसी परमात्मा से संसार की रचना हुई है। यह सिद्धान्त है। **जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतः।**

किसी ने कहा है कि आपने जो ब्रह्म का लक्षण बताया यह ज्यों का त्यों सांख्य शास्त्र में परिकल्पित प्रधान है। जिसको प्रकृति कहते हैं, उसमें यह समन्वित हो जाता है। प्रकृति से ही सारा संसार उत्पन्न होता है, प्रकृति में ही रहता है और अन्त में प्रकृति में ही लीन हो जाता है।

प्रकृति माने कारण। जैसे मिट्टी से घड़ा पैदा हुआ। मिट्टी में घड़ा रहता है और अन्त में फूटकर मिट्टी में ही मिल जाता है। इसी तरह से जो यह प्रकृति है, इसमें तीन गुण हैं - सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण। सारे संसार में तीन गुण पाये जाते हैं। सत्त्वगुण से ज्ञान होता है, रजोगुण से कर्म होता है, तमोगुण से अज्ञान होता है। सत्त्वगुण से सुख होता है, रजोगुण से कर्म होता है और तमोगुण से मोह होता है। संसार की जितनी भी जड़-चेतन वस्तुएँ हैं, उनमें तीन स्वभाव मिलते हैं। किसी भी वस्तु को ले लीजिये। किसी का सेवन करने से ज्ञान होगा, किसी का सेवन करने से मोह होगा, किसी का सेवन करने से स्फूर्ति आयेगी, किसी में आलस्य आयेगा।

इस संसार में हर प्राणी में, हर पदार्थ में हर चीज में हम तीन गुण पाते हैं और ये तीन गुण प्रकृति के हैं। प्रकृति को ही सांख्य शास्त्र में प्रधान माना गया है।

इसीलिये क्यों न हम मान लें 'जन्माद्यस्य यतः' अर्थात् जिससे संसार का जन्मादि हुआ हो, वह ब्रह्म है। तब प्रश्न उठता है कि आप प्रधान को ही ब्रह्म मानकर उसका ध्यान कर रहे हैं क्या? उस प्रधान का वारण करने के लिये कि यह लक्षण प्रधान में न चला जाय, इसके लिये ही व्यासजी ने कहा—'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः ।' अर्थेष्वभिज्ञः अर्थात् पदार्थों का ज्ञाता है क्योंकि बिना जाने कोई किसी वस्तु की रचना नहीं कर सकता । 'जानाति इच्छति अथ करोति' अर्थात् किसी वस्तु को कोई जानता है, फिर उसको बनाने की इच्छा करता है, फिर प्रयत्न करके उसका निर्माण करता है। कुम्हार घड़े को बनाता है तो पहले घड़े को जानता है, फिर उसको बनाने की इच्छा करता है । तब उसके बाद चक्र चीवर लेकर उसका निर्माण करता है। उसका ज्ञान तो होना चाहिये । प्रकृति में ज्ञान ही नहीं, यह तो जड़ है। इसीलिये 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्रह्मसूत्र १/१/५) यह ब्रह्मसूत्र है । 'अशब्द' माने 'शब्द प्रमाणरहितं सांख्यपरिकल्पितं प्रधानम् जगत्कारणं न' सांख्य के द्वारा परिकल्पित जो प्रधान है, वह जगत् का कारण नहीं है ।

इसीलिये श्रुतियों ने कहा - 'तदैक्षत् । 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय' उस परमात्मा ने देखा कि 'मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ' यह देखकर उन्होंने सृष्टि की है । इसीलिये यह माना जा सकता है कि 'वह ज्ञानवान् है, जो इस तरह का रचयिता है, वह अज्ञानी प्रकृति नहीं है ।' 'अर्थेष्वभिज्ञः' अर्थात् वह सर्वज्ञ है । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' ब्रह्मसूत्र में आता है - 'शास्त्रयो नित्वात्'। शास्त्र क्या है ? 'शिष्यते हितमुपदिश्यते अनेन इति शास्त्रं' जिसके द्वारा हित का उपदेश हो, उसका नाम शास्त्र है । वह शास्त्र कौन है ? वेद है, और वेद में समस्त विद्याएँ हैं । चतुर्दश विद्याएँ वेदों में पठित हैं । उन वेदों का जिसने निर्माण किया, स्वाभाविक रूप से उसका ज्ञान वेदों के ज्ञान से भी विशाल होगा । जैसे कोई लेखक किसी पुस्तक का निर्माण करता है तो उस पुस्तक में जितना ज्ञान होता है उससे उसको कहीं अधिक होता है । उसी प्रकार जिसमें अनन्त ज्ञान है, जो सर्वज्ञ है, वह परमात्मा है । उसी का हम ध्यान करते हैं।

फिर किसी ने यह प्रश्न कर दिया कि 'आप कहीं किसी ऐसे जीव का ध्यान तो नहीं कर रहे हैं, जिसने तपस्या करके सर्वज्ञता प्राप्त कर ली हो । जीव भी तो

सर्वज्ञ हो जाता है।' बोले - 'नहीं, इसने तो प्रयत्न से सर्वज्ञता प्राप्त की है, जिसमें सहज ही सर्वज्ञता है' - 'स्वेनैव राजते इति स्वराट्' जो अपने द्वारा ही प्रकाशित हो वह स्वराट् होता है। स्वयं जो ज्ञानवान् है, वह स्वयं सर्वज्ञ परमात्मा ही हमारे ध्येय हैं। 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्' और 'आदिकवये हृदा ब्रह्म तेने' जिस परमात्मा ने आदिकवि ब्रह्मा के हृदय में वेदों का विस्तार किया। 'हृदा' माने संकल्पमात्रेण। सृष्टि के आरम्भ में जब ब्रह्माजी का जन्म हुआ तो भगवान् ने उनको अन्तःप्रेरणा से वेदमन्त्रों का साक्षात्कार कराया। भगवान् ने ब्रह्माजी को उपदेश नहीं दिया अपितु उनको हृदय में स्वयं वेदों के मन्त्रों का दर्शन हुआ। वेदमन्त्र उनके हृदय में प्रकट हुए। इस प्रकार ब्रह्माजी वेदज्ञ बने। कहते हैं कि उनके चारमुख थे। वेदों को उन्होंने चार मुखों से शिष्यों को बताया। इसलिये उनके चार विभाग हो गये। यहाँ परमात्मा 'आदिकवये हृदा ब्रह्म तेने तथा यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' आदि कहकर यही बतलाया कि जिसने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को वेद का उपदेश दिया, वेद को उनके हृदय में प्रविष्ट कराया, उन भगवान् के चरणों में मुमुक्षु होकर मैं शरण लेता हूँ। 'मुह्यन्ति यत्सूरयः। यत् यस्मिन् सूरयोऽपिमुह्यन्ति' अर्थात् जिस परमात्मा से बड़े-बड़े सूर माने विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।

अब स्वरूप लक्षण कहते हैं - वस्तु के स्वरूप से पृथक् होकर वस्तु के स्वरूप का जो बोध कराये, वह हो गया तटस्थ लक्षण और जो वस्तु का स्वरूप ही हो, उस लक्षण को स्वरूपलक्षण कहते हैं। 'यस्मिन् परमात्मनि सूरयोऽपि मुह्यन्ति' अर्थात् जिस परमात्मा के स्वरूप को जानने में सूर माने बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।

प्रश्न आया 'यदि वे सूर हैं तो मोहित क्यों हो गये? विद्वान् हैं तो मोहित कैसे हो गये? और यदि मोहित हो गये तो विद्वान् क्यों कहा उनको? इसके उत्तर में कहा गया है कि 'वह वस्तु ही ऐसी है।' 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः। अतस्मिन्स्तद्बुद्धिरध्यासः'। जो वस्तु नहीं है, उसमें उस प्रकार की बुद्धि हो जाना मोह कहलाता है। आत्मा-अनात्मा सर्वथा एक-दूसरे से पृथक् हैं।

'युष्मद्-अस्मद्-प्रत्ययगोचरयोः' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, अध्यास भाष्य भूमिका) युष्मद् अस्मद् प्रत्यय का गोचर जो आत्मा और जगत् है, वह आत्मा

और अनात्मा है। इन दोनों का एकीकरण हो जाता है। इसके एकीकरण का नाम ही अध्यास है। अनात्मा को आत्मा में अध्यस्त कर देना इसको कहते हैं 'अन्योन्याध्यास'। अनन्य में अन्य का अध्यास। अन्य कौन हुआ? 'परमात्मा' और इसमें अन्य माने अनात्मा तो अनात्मा का आत्मा स्वरूपाध्यास है और अनात्मा में आत्मा का संसर्गी अध्यास है क्योंकि यदि हम स्वरूपाध्यास मानेंगे तो जैसे आत्मा के ज्ञान से आत्मा का बाध हो जाता है इसी तरह अनात्मा के ज्ञान से आत्मा का बाध हो जायेगा। इसीलिये उसका बाध तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह अबाध है। सत् है तो उसके संसर्ग का बाध होगा ही। आत्मा के साथ अनात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका बाध होगा। इसी को कहते हैं - चिज्जड-ग्रन्थि माने जड़-चेतन की ग्रन्थि।

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई । जदपि मृषा छूत कठिनई ॥

(श्रीरामचरितमानस उ.का. दोहा ११६ बाद चौ ४)

जड़ और चेतन की जो गाँठ पड़ गयी है, वह यद्यपि सच्ची नहीं है। तो भी **छूत कठिनई**। माने छूटना बड़ा कठिन है। सच्ची चीज हो तो छूट जाय। झूठी कैसे छूटेगी ?

एक पण्डितजी कहीं जा रहे थे। पैदल जाना था। उनका विचार था कि ब्राह्म मुहूर्त में निकलेंगे। सूर्योदय होने के साथ ही चलें तो वहाँ पहुँच जायेंगे। अपनी सदरी गले में टाँगी, लोटा डोर लिया, कुबड़ी गले में दबाई और चल दिये पण्डितजी। चलते-चलते शाम हो गयी। धीरे-धीरे अंधेरा छा गया। पण्डितजी को एक ठूँठ दिखायी पड़ा। उनको भ्रम हो गया कि यह ठूँठ कोई प्रेत है। वे रुक गये। उनका हृदय धड़कने लगा, इस सोच में कि कोई प्रेत सामने खड़ा है। वे हनुमान् चालीसा का पाठ करने लगे।

भूत पिसाच निकट नहिं आवे। महावीर जब नाम सुनावे॥

(श्रीहनुमान चालीसा)

लेकिन प्रेत हटे ही न। पण्डित जी ने कहा - 'बहुत बड़ा प्रेत है। यह हनुमान् चालीसा से नहीं भागेगा, गायत्री-मन्त्र से भागेगा। पण्डितजी ने अपने हाथ में जल लिया और लगे गायत्री मन्त्र पढ़ने। मन्त्र पढ़कर जल ठूँठ की ओर फेंका। फिर भी वह न हटा। कहा - 'बड़ा भयंकर प्रेत है।' मन्त्र पढ़ते-पढ़ते जब पण्डितजी

ऊब गये तो सोचा - 'यह हटता नहीं है तो इससे निबट ही लें।' सोचकर पण्डितजी ने अपनी सदरी एक तरफ फेंकी, लोटा और डोर एक ओर रख दिया और चलाया डंडा। डंडा चलते ही पता चल गया यह तो टूँठ है। प्रेत नहीं है। अगर सच्चा प्रेत होता तो हनुमान् चालीसा और गायत्री मन्त्र से भाग गया होता। यह तो प्रेत था ही नहीं, प्रेत का भ्रम था।

गाँठ सच्ची होती तो खोलने से खुल जाती। कर्म से हम उसको खोल सकते थे। लेकिन जो गाँठ वस्तुतः है नहीं और वह बन गयी है तो कर्म से उसका निवारण नहीं हो सकता। जो वस्तु अज्ञान से होती है, उसका निवारण ज्ञान से ही हो सकता है। अन्य किसी साधन से नहीं हो सकता। यह अध्यास पड़ गया। अध्यास कैसे छूटे ?

रामायण की कथा आप लोग सुनते हैं। रामायण में आता है कि रावण सीताजी को हर ले गया और उन्हें अपनी लंका स्थित अशोक वाटिका में रख दिया। भगवान् श्रीराम सीता के वियोग में व्याकुल हो गये। उन्होंने सीता का पता लगाने के लिये हनुमान् जी को भेजा। हनुमान् जी ने सौ योजन के समुद्र को पार करके सीताजी का पता लगाया।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो यह श्रीरामकथा अपने ऊपर भी लागू होती है। आत्मा राम है। शान्ति सीता है। मोहरूपी रावण ने इस शान्ति रूपी सीता को अविद्या रूपी लंका में छिपा कर रखा है। आत्मा रूपी राम, शान्ति रूपी सीता के विरह में व्याकुल होकर विचार रूपी हनुमान् को उनका पता लगाने के लिये भेजते हैं। विचार रूपी हनुमान् शान्ति रूपी सीता की खोज में जब चलते हैं तब उनको सौ योजन का समुद्र सामने दिखलायी पड़ता है। यह सौ योजन का समुद्र क्या है ? यह देहाभिमान है। जब तक देहाभिमान रहेगा तब तक शान्ति कहाँ ? देहाभिमान रूपी समुद्र को लाँघने के लिये विचार रूपी हनुमान् जब चलते हैं तब तीन प्रकार की माया उनको घेरती है। सबसे पहले सात्त्विकी माया आती है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी॥

(श्रीरामचरितमानस सु. का. चौ ९)

समुद्र ने देखा कि यह वानर हमें लाँघ कर जाएगा तो हमारा अपमान होगा।

इसीलिये उसके भीतर जो मैनाक पर्वत छिपा हुआ था, उसने उससे कहा - 'तुम यहाँ से बाहर निकल कर हनुमानजी को थोड़ा विश्राम करा दो, मेरी नाक रह जायेगी। यदि यह लाँघ गया तो मेरी क्या इज्जत रह जायेगी?' तब मैनाक बाहर आया और हाथ जोड़कर हनुमान्जी से बोला - 'महाराज ! आप कुछ देर विश्राम कर लें। समुद्र बहुत लम्बा-चौड़ा है।'

जो भगवान् के भक्त हैं, दूत हैं, उनकी सहायता करना तो स्वाभाविक है। संत-महात्माओं की आप लोग सेवा करते हैं। उनको भिक्षा देते हैं। वस्त्र देते हैं। रहने के लिये छाया देते हैं। रघुपति के दूत भगवान् के मार्ग पर चलने वाले हैं, थोड़ा इनको सहयोग कर दो। इनकी साधना में सहायता कर दो। किसी प्रकार का विघ्न न आने पाये। इस बात का अपने जीवन में सदा ध्यान रखो।

हनुमान्जी ने देखा कि इस समय हम यदि सुख में आसक्त हो गये तो हमारी साधना नहीं हो पायेगी। सुख की आसक्ति साधना में बाधक है। सबसे अच्छा समय भगवान् के ध्यान का होता है ब्रह्म-मुहूर्त। आजकल लोगों को ब्रह्म-मुहूर्त में ही ज्यादा नींद आती है। करीब-करीब दो बजे के पहले तो कोई सोता नहीं है और ब्रह्म-मुहूर्त तो उस ऐसे लोगों के लिये आधी रात है। आठ बजे से पहले वे उठते नहीं। आप सदा झलीजिये आजकल के जो २०-२२ वर्ष तक के लड़के हैं, उन्होंने प्रभात देखा ही नहीं। आप पूछिये उनसे कि 'तुमने सबेरा देखा है? प्रातःकाल की शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन का क्या तुमने अनुभव किया है?' उत्तर मिलेगा - 'नहीं' कैसा स्वर्णिम प्रभात है, यह पृथ्वी कैसी स्वर्णिम दिखायी पड़ती है क्या तुमने अनुभव किया है?' क्यों भाई? कहीं तो आनन्द का अनुभव उसे नहीं हुआ। वे माँह की निद्रा में पड़े रहे। एक लड़के से हमने पूछा - 'तुमने सूर्योदय देखा है?' बोला-हाँ ! पूछा कब ? बोला- 'टी.वी. में'। यह हालत है।

हम लोग कुछ दिन पहले प्रयाग में थे वहाँ बहुत से लोग माघ-मास में कल्पवास करते हैं। फूस की झोपड़ी में रहते हैं। टैण्टों में रहते हैं। प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में उठकर ठिठुरते हुए त्रिवेणी में जाते हैं और वहाँ जाकर गोता लगाते हैं। गोता लगाने के पहले तो ठंड लगती है, लेकिन जैसे ही त्रिवेणी में गोता लगाते हैं, ठंड दूर हो जाती है, सूर्य का दर्शन होता है, उनको लोग अर्घ्य देते हैं। वह जो आनन्द आता है, उस आनन्द का अनुभव इन युवकों को नहीं हो सकता, जो नौ-

दस बजे तक रजाई में लिपटे पड़े रहते हैं । उस आनन्द के लिये मोह का त्याग करना पड़ेगा । कई लोग तो ऐसा कहते हैं कि 'अरे भाई ! हमसे उठा नहीं जाता । हम तो सोये-सोये ध्यान कर लेते हैं । पाँच मिनट के बाद फिर सो जाएँगे । सत्त्वगुण से ही ध्यान होता है । लेकिन तमोगुण को दूर करने के लिये सत्त्वगुण पर्याप्त नहीं है । पहले उठो उसके बाद थोड़ा टहल लो । नहा लो ।

देखो, भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थ थे । उनके बराबर का गृहस्थ इस संसार में कौन होगा, जिनकी सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ थीं । इतना बड़ा गृहस्थ आज कौन है ?

ब्राह्मो मुहूर्ते उत्थाय, वायूपस्पृश्य माधवः।

दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥

(श्रीमद्भागवत १०/७०/४)

भगवान् माधव ब्रह्ममुहूर्त में उठकर प्रसन्नान्तःकरण होकर उस आत्मा का चिन्तन किया करते थे । यद्यपि वे अनादि हैं, अनन्त हैं, एक है, स्वयं ज्योति रूप है। सत्संग में यदि आलस्य आता है या इस प्रकार की सोच रखने वाले कि कौन जाय, वहाँ बैठना पड़ेगा तो इस प्रकार के लोग सत्संग का लाभ उठा नहीं पाते। हनुमान् जी ने सोचा कि साधना में सुख बाधक है । सत्त्वगुण का कार्य सुख है । इसीलिए -

हनूमान तेहि परसा, पुनि तेहि कीन्ह प्रनाम।

राम काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ बिश्राम ॥

(श्रीरामचरितमानस सु.का. दोहा १)

सौ योजन के समुद्र को कौन पार करेगा ? देहाभिमान का त्याग वही कर सकता है, जो आत्मा और अनात्मा का विवेक कर दे । आत्मा और अनात्मा का जब तक अविवेक रहेगा, तब तक देहाभिमान से कोई मुक्त नहीं हो सकता । तब अविवेक एक राक्षसी के रूप में प्रकट हुआ ।

निसिचर एक सिंधु महँ रहई । करि माया नभ के खग गहई ॥

जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं । जल विलोकि तिनकी परिछाहीं॥

गहहिं छाहँ सक सो न उड़ाई । एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥

(श्रीरामचरितमानस सु.का. दोहा २ के बाद चौ १)

एक राक्षसी समुद्र में रहती थी । नाम था माया । वह आकाश में उड़ने वाले जन्तुओं को खा जाती थी । 'गगनचर' अर्थात् पक्षी जो गगनचर होते थे। जल से उन जन्तुओं का कोई सम्बन्ध नहीं था । परन्तु जल में जब उनकी छाया पड़ती थी वह राक्षसी उनकी छाया को पकड़ लेती थी । छाया के पकड़े जाने पर वह गगनचर जन्तु यह समझता था कि 'मैं पकड़ा गया' और वह निष्क्रिय होकर गिर पड़ता था । उसके गिरते ही वह राक्षसी उसे खा जाती थी । यही थी चिज्जड़ ग्रन्थि । अनात्मा के धर्मों को आत्मा में आरोपित कर लिया । अनात्मा में आत्मा का आभास पड़ा, प्रतिबिम्ब पड़ा तो अनात्मा के गुण-धर्मों को आत्मा में मान लिया । वे समझने लगे कि हम सुखी-दुःखी, संसारी हैं, अनेकानर्थ परिप्लुत हैं। बस, यही तो जीव के बन्धन का कारण है । शरीर के साथ जुड़ गये, शरीर के साथ जुड़ जाने के कारण अब हम आगे कैसे बढ़ सकते हैं, अपनी आत्मा को कैसे जान सकते हैं ?

हनुमान्जी ने समझ लिया - यह जड़-चेतन की ग्रंथि है । इसको बिना खोले (बिना मारे) देहाभिमान रूपी समुद्र को पार करना कठिन है । इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा -

सोइ छल हनूमान सन कीन्हा । तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा॥

ताहि मारि मारुतसुत बीरा । बारिधि पार गयउ मतिधीरा ॥

(श्रीरामचरितमानस उ.का. दोहा २के बाद चौ ४)

इस रजोगुणी माया को हनुमान्जी ने सत्गुण से जीत लिया । अब आयी रजोगुणी माया सुरसा । चूँकि रजोगुण को सत्गुण से ही जीता जा सकता है अतः प्रथमतः सुरसा के साथ रजोगुण दिखाते हुए हनुमान भी बढ़ने लगे परन्तु अन्त में छोटे होकर विनयपूर्वक उसके शरीर में प्रवेश कर बाहर आ गये और उसका सम्मान करते हुए विदा ली । इस तरह उस पर भी हनुमानजी ने विजय पा लिया । तमोगुणी लंकिनी पर भी विचार हनुमानजी विजय प्राप्त कर लिये । तब कहीं जाकर वे शान्ति रूपी सीता का पता लगा पाये । उन्होंने भगवान् आत्मारूपी राम को सूचना दिया । आत्मारूपी राम ने शमदमादि साधनरूपी वानर भालुओं की सेना लेकर उस क्रोध कुम्भकर्ण, मद मेघनाद और मोहरूपी रावण का वध करने के लिये अविद्या रूपी लंका पर आक्रमण किया । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद,

मत्सर आदि सब सखा थे रावण के । वे सब मारे गये और अन्त में मोह को मार कर भगवान् राम ने शान्ति रूपी सीता को प्राप्त करके परम सुख का अनुभव किया । कहने का मतलब यह है कि अध्यास का निराकरण होने पर ही मनुष्य को शान्ति मिल सकती है । लेकिन अध्यास बड़ा कठिन है ।

अध्यास कैसे आ जाता है ? **‘तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो’** तेज में, मरुभूमि में जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो उन तेजोमयी सूर्य की किरणों में जल का भ्रम हो जाता है ।

मंदाकिनी के सामने बालुकाराशि है, तेज प्रकाश में लगता है मानो गंगा लहरें मार रहीं हैं । ऐसा प्रतीत हो रहा है - तेज में वारि और मृदा । काठ पड़ा हो काठ मिट्टी है, उसमें जल का भ्रम हो जाता है । युधिष्ठिर की सभा में दुर्योधन को जल में स्थल का भ्रम हो गया था और स्थल में जल का भ्रम हो गया था । **‘तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो’** जल में स्थल का भ्रम और स्थल में जल का भ्रम । जैसे जो वस्तु नहीं है, उसमें इस प्रकार का भ्रम हो जाता है और उसका भ्रम मिटना बड़ा कठिन होता है । जब तक अधिष्ठान का ज्ञान न हो, तब तक भ्रम दूर नहीं बड़ा कठिन होता है । अंधेरे में आप चले जा रहे हैं । रास्ते में टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी पड़ी है । आपको भ्रम हो गया कि सर्प पड़ा है, आप चीख कर पीछे की ओर दो-चार कदम लौटते हैं आपका हृदय धड़कने लगता है । ओ हो ! यह साँप है, इसके ऊपर पैर पड़ जाता तो गये ही थे ।

आप आगे नहीं बढ़ सकते, जब तक आपको रस्सी का ज्ञान न हो जाय, तब तक आपको भय बना रहेगा, तब तक हृदय धड़कता रहेगा । रस्सी का ज्ञान होने पर ही साँप का भ्रम दूर हो सकता है और भ्रम के दूर होने के साथ-साथ भय और हृदय का धड़कना भी दूर हो जायेगा ।

इसी तरह आप कोई स्वप्न देख रहे हैं कि घर में चोर घुस गये हैं और आपके अच्छे से अच्छे सामान सब ले गये । आपके गले में जो आभूषण थे वह भी ले गये । आपके हाथ में जो मुद्रिकाएँ थीं, वह भी ले गये । गले का हार भी ले गये । तिजोरी का सारा सामान ले गये । आप बड़े चिन्तित एवं असहाय-से हो गये कि जीवन भर की कमाई चली गयी । आप रो रहे हैं । अब आप बताइये कि आपका रोना कब बन्द होगा ? जब आप जाग जायेंगे । अरे, कुछ तो नहीं गया ।

यह तो सब हमने स्वप्न में देखा था । गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है -

जो सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे दुःख दूरि न होई॥

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥

(श्रीरामचरितमानस बा.का. दोहा ११७ बाद चौ २-३)

जैसे स्वप्न में हमारा कोई सिर काट ले और हम सोचे बैठे रहें कि हाय ! हम तो मर गये । परिवार का क्या होगा ? बेटे का क्या होगा ? बेटी का क्या होगा ? किसी की अभी शादी नहीं हुई है । सभी लड़के नासमझ हैं । हाय ! मेरा परिवार तो बरबाद हो गया । मन में रो रहे हैं और देख रहे हैं कि हमारा शरीर कटा पड़ा है । इतने में सब बन्धु-बान्धव आदि ने रोते-गाते हमारी अर्थी बनायी। शरीर को उसमें रख कर बाँधा और 'राम-नाम सत्य है' कह कर ले चले। श्मशान में ले गये । लकड़ी की चिता बनाकर उसपर हमारे शरीर को रखकर चिता में आग लगा दी। अग्नि जोर पकड़ने लगी । हमारी चिता जल रही है । स्वप्न में हम अपने शरीर की दशा देखकर दुःखी हो रहे हैं। जिनकी कृपा से यह भ्रम मिट जाये, जो सोते से जगा दें वह कौन हैं ? गुरु ही सोते से जगा देते हैं । जो मोह की निद्रा में सो रहे हैं, उनको जागृत कर देना ही गुरु का कार्य है । इस दृष्टि से देखा जाय तो गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं -

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ।

जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती तब तक सद्गुरु की प्राप्ति भी नहीं होती । आत्मा में स्वप्न दीखता नहीं, कल्पित होता है । सद्गुरु के उपदेश से ही इसका ज्ञान होता है ।

‘तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोमृषा।’

जिस परमात्मा में तीनों प्रकार का सर्ग- दैहिक, दैविक और भौतिक, तीनों प्रकार का भ्रम- जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों प्रकार का गुण- सत्त्व-रज-तम और तीनों प्रकार का शरीर- स्थूल, सूक्ष्म और कारण मृषा भासते हैं, जो वास्तव में है नहीं । बिना हुए भी दिखायी पड़ते हैं -

झूठेउ सत्य जाइ बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई ॥

(श्रीरामचरितमानस बा.का. दोहा १११ बाद चौ १)

जिस परमात्मा को न जानने से झूठा भी सत्य प्रतीत होता है। जैसे बिना रज्जु को पहचाने झूठी रस्सी भी सच्चे सर्प की तरह लगती है और जिसको जान लेने के बाद जगत् उसी प्रकार खो जाता है जैसे जाग जाने पर स्वप्न खो जाता है। उसी प्रकार परमात्मा भी ।

राम ब्रह्म परमात्म रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥

सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरुपहिं वेदा॥

(श्रीरामचरितमानस अ.का. दोहा ९२ बाद चौ ७-८)

‘धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्’

जिस परमात्मा के धाम माने तेज से ‘सदा निरस्त कुहकं’ माने कपट लक्षणी माया सदा ही निरस्त है। परमात्मा ने द्वैत को देखा ही नहीं। प्रश्न यह आता है कि जब तक अधिष्ठान का ज्ञान न हो जाय, तब तक उसमें अध्यास नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त है कि अधिष्ठान के अज्ञान से ही अध्यास होता है। इसीलिये शून्यवाद कट जाता है। शून्यवादी बौद्ध भी कहते हैं कि ‘संसार असत्य है। संसार स्वप्न के समान मिथ्या है।’ लेकिन वे ब्रह्म को भी नहीं मानते हैं। वे कहते हैं - **‘सर्वं शून्यम्’**। पर यह नियम है कि भ्रम निरधिष्ठान नहीं होता। ब्रह्म का कोई न कोई अधिष्ठान होता है - **‘किञ्चित् क्वचिदध्यस्यते ।’**

कोई वस्तु कहाँ अध्यस्त होती है ? किसमें अध्यस्त होती है ? जो अध्यस्त हो वह अधिष्ठान है। अधिष्ठान का अज्ञान सामान्य रूप से ज्ञान है और विशेष रूप से अज्ञान है। यह अध्यास का कारण होता है। शुक्ति में रजत का भ्रम कब होगा ? जब हम शुक्ति का (सीपिका का) हिस्सा देखेंगे तो जो चमकीला हिस्सा है और उसका नील पृष्ठत्व है, उसे नहीं देखेंगे। पुनः जब उसे उलट कर देखेंगे तब **‘इदं रजतं न’** इत्याकारक ज्ञान होगा। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है -

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९/४)

भगवान् श्रीकृष्ण ने इसमें बताया है कि **‘मया अव्यक्तमूर्तिना इदं सर्वं जगत् ततम्’** मैं अव्यक्त मूर्ति हूँ। मेरे द्वारा यह संसार व्याप्त है। **अव्यक्त**

मूर्तिना कहकर इसमें बतलाया गया कि जब ब्रह्म अविद्या से, माया से उपहित होता है, तब वह जगत् का कारण बनता है। शुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता।

अब यह प्रश्न आ गया कि ब्रह्म में भी अज्ञान होना चाहिये। संसार में कोई अज्ञान का आश्रय हो वह अच्छी बात नहीं है। जिस प्रकार 'आप नहीं जानते' यह बात आपको अच्छा नहीं लगेगी। 'मैं आपको नहीं जान पाया।' यह बात प्रशंसा हो जाएगी। किसी को न जानना, अज्ञान का विषय होना, दोष नहीं है। अज्ञान का आश्रय होना दोषपूर्ण है। क्या परमात्मा में अज्ञान है? उसमें आश्रय है। हमारे यहाँ के दार्शनिक लोग वेदान्त को मानते हैं। वाचस्पति मिश्र का कहना है - 'जीवाश्रया ब्रह्मपदा अविद्या ब्रह्मविन्मता' अविद्या माने अज्ञान, माया। 'जीवाश्रया' उसका आश्रय जीव है। 'ब्रह्मपदा' माने ब्रह्म उसका विषय है। लेकिन वेदान्त के एक बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं 'सर्वज्ञात मुनि'। जिन्होंने 'संक्षिप्त शारीरक' नाम का ग्रंथ लिखा है। वे कहते हैं -

‘आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला ।

पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽऽश्रयो भवति नापि गोचरः।’

(संक्षेपशारीरकम् १/३१९)

केवल निर्विभागचित्तिरेव आश्रयत्वविषयत्व भागिनी । पूर्वसिद्ध तमसः हि पश्चिमः नाश्रयो भवति, नापि गोचरः । अर्थात् अज्ञान के आधार पर जीव और ईश्वर का विभाग होता है अतः अज्ञान का आश्रय और विषय न तो जीव हो सकता है और न ही ईश्वर। किन्तु जीवेश्वर विभागशून्य अद्वितीय शुद्ध चेतन ही आश्रय भी है और विषय भी। यद्यपि जीवादि विभाग अनादि माना जाता है, अज्ञान तथा जीवादि में पौर्वापर्य बनता नहीं, तथापि वह विभाग वास्तविक नहीं अपितु मायिक है। अतः वह अज्ञान प्रयुक्त होने से अज्ञान का आश्रय नहीं बन सकता। यदि बनाएंगे तो अन्योन्याश्रय दोष हो जाएगा। इसीलिए जड़ पदार्थ भी अज्ञान का आश्रय नहीं बन सकता। एतावता पूर्णब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय भी है और विषय भी।

इसलिए कहना होगा - निर्विशेष चित्ति अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। जैसे घर के भीतर का अंधकार जो मठाकाश (मठ के भीतर का आकाश) है,

उसका भी आश्रय वही है । वह विषय भी हो सकता है । उसी आकाश में अन्धकार रहता है और उसी अन्धकार को ढँकता भी है । आप समझ लीजिए कि अज्ञान के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि जैसे हम सूर्य को बदली से ढका हुआ देखते हैं । कहते हैं कि 'आज सूर्य मेघाच्छन्न है । सूर्य मेघ से ढक गया है।' पर विचार करें कि सूर्य मेघ से ढक गया है यह आप किसके प्रकाश से देख रहे हैं? सूर्य के ही प्रकाश से देख रहे हैं । सूर्य ही यह बतला रहा है कि 'मैं मेघ से आच्छन्न हूँ। इसी तरह से कोई कहता है 'अहं ब्रह्म न जानामि' माने मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ ।' तो 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता' यह कौन जान रहा है ? 'नहीं जानता' इस वाक्य को भी ब्रह्म ही जानता है । इसीलिए ब्रह्म का अनुभव ब्रह्म के ही द्वारा होता है ।

अज्ञानी की भी सिद्धि बिना ब्रह्म के नहीं हो सकती । यदि वह अज्ञान से आवृत्त हो जाय तो ? वेदान्त शास्त्रों में बतलाया गया है कि केवल ब्रह्म अज्ञान का निवारक नहीं है । क्योंकि वह तो सर्वत्र व्यापक है । अज्ञान का जो प्रकाशक है वह न किसी का साधक है और न बाधक । वह बाधक तब बनता है जब महावाक्यजन्य ब्रह्मकाराकारित चित्तवृत्ति में अधिरूढ़ होता है। जैसे रूई के ढेर पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं लेकिन रूई नहीं जलती । जब आक्सी माने शीशा (सूर्यकान्त मणि) के द्वारा सूर्य की किरणों को रूई पर डाला जाता है तब वह जल जाती है। इसी प्रकार महावाक्यजन्य ब्रह्मकाराकारित वृत्ति में अधिरूढ़ होकर ही चेतन अज्ञान का नाश करता है ।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि 'जो मेरा निरन्तर भजन करते हैं वे मेरे भक्त हैं'।

‘तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥’

(श्रीमद्भगवद्गीता १०/१०)

जो मेरा नित्य भजन करते हैं मैं उनको बुद्धियोग दे देता हूँ।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥’

(श्रीमद्भगवद्गीता १०/११)

उन भक्तों के ऊपर अनुकम्पा करने के लिये मैं उनके आत्मभाव में स्थित होकर प्रकाशित ज्ञान रूपी दीपक से उनके अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ। जब साधक ब्रह्म को आत्मा से अभिन्न समझ लेता है तब उसके अज्ञान का नाश हो जाता है।

आत्मभाव का अर्थ है 'महावाक्यजन्यब्रह्माकाराकारितवृत्ति'। यह वृत्ति जब बनी तब उसमें चैतन्य अधिरूढ़ हुआ और उसने अज्ञान का नाश कर दिया। वह नाशक ब्रह्म सोपाधिक है। महावाक्यजन्य ब्रह्माकाराकारितवृत्ति में अधिरूढ़ है। लेकिन जो सहज ब्रह्म है, वह भी अज्ञान से रहित है। अज्ञान का भी वही साक्षी है। इसीलिए उसमें न अज्ञान था, न है और न आगे होगा। ज्ञानी का यही लक्षण है।

वस्तुतः जो सच्चा ज्ञानी है वह यह नहीं कहता कि 'मैं पहले अज्ञानी था अब ज्ञानी हो गया'। वह तो यही कहेगा कि 'मैं पहले भी अज्ञानी नहीं था। मुझमें तो अज्ञान था ही नहीं। अगर तुम पहले अज्ञानी थे, अब ज्ञानी हुए तो इसका मतलब तुम्हें ज्ञान हुआ ही नहीं। अभी भी तुम अज्ञानी ही हो। ज्ञान का लक्षण यह है कि अज्ञान कभी था ही नहीं।

मुक्ति (मोक्ष) क्या है? कोई कहे कि 'पहले हम बद्ध थे अब मुक्त हो गये हैं'। यह तो नासमझी की बात है। जो मुक्त होगा, वह तो यह समझेगा कि बन्धन मुझमें था ही नहीं। मैं तो नित्य मुक्त हूँ।' यही भाव होना चाहिए। इसी भाव से व्यास जी कहते हैं -

धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।

(श्रीमद्भागवत १/१/१)

अब थोड़ी भक्ति की चर्चा कर ली जाय। इस श्रीमद्भागवत की रचना व्यासजी ने तब की थी जब नारदजी ने उनसे कहा था कि 'तुमने सब कुछ तो कहा लेकिन श्रीकृष्ण के गुण-गणों का वर्णन नहीं किया।' तब श्रीकृष्ण गुण-गण प्रधान श्रीमद्भागवत का प्रणयन श्रीकृष्णद्वैपायन महामुनि ने किया। फिर यह तो स्वाभाविक था कि वे अपने मङ्गलाचरण में भगवान् श्रीकृष्ण के गुण-गणों का स्मरण करते ही। श्रीमद्भागवत में दस विषय हैं। यह महापुराण है -

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।

मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।

(श्रीमद्भागवत २/१०/१-२)

इस श्रीमद्भागवत महापुराण में सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय इन दस विषयों का वर्णन है।

पञ्चमहाभूत, पञ्च तन्मात्रा और इन्द्रियों के अहंकार को सर्ग कहते हैं। विविधि प्रकार के प्राणियों की सृष्टि को विसर्ग कहते हैं। मन्वन्तर और उनमें होने वाली कथा को ईशानुकथा कहते हैं। ईश माने भगवान्। भगवान् और उनके भक्तों की कथा ईशानुकथा है। भगवान् का अपनी शक्तियों के सहित योगनिद्रा में सो जाना प्रलयकाल है। यही निरोध है। अन्य के स्वरूप का त्याग करके स्वस्वरूप में स्थित हो जाने का नाम मुक्ति है। जिससे संसार की प्रतीति और अप्रतीति होती है, वह आश्रय श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। उन श्रीकृष्ण का वर्णन इस भागवत का मुख्य विषय है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में सबसे पहले भगवान् के जन्म की कथा का वर्णन है। 'आद्यस्य जन्म' माने जो आद्य, प्रथम पुरुष, पुराण पुरुष परमात्मा है, उसका जन्म कैसे हुआ? देवकी वसुदेव के द्वारा दिव्य रीति से भगवान् का गर्भाधान हुआ और फिर भगवान् प्रकट हुए। प्रश्न उठता है कि भगवान् ने मथुरा में जन्म लिया तो फिर वे मथुरा से गोकुल क्यों चले गये? कंस के भय से तो नहीं चले गये? नहीं। क्योंकि कंस को तो उन्होंने मार ही दिया। देवकी, वसुदेव को भय था। इसलिए चले आए। कुछ लोग प्रश्न उठाते हैं कि क्या भगवान् उस समय कंस को मार नहीं सकते थे? उसी समय मार दिये होते। कहा कि नहीं, 'अर्थेष्वभिज्ञः' भगवान् अपने अवतार का प्रयोजन जानते थे। नन्द-यशोदा ने तपस्या की है कि 'वे हमें (श्रीकृष्ण) को पुत्र रूप में प्राप्त करें और उनको अपना पुत्र मानकर उनकी सेवा करें तथा हमें पुत्र का सुख प्राप्त हो।' वे वहाँ बैठे हैं, गोपियाँ बैठी हैं, गौएँ बैठी हैं, ऋषि-मुनि बैठे हैं। उन सबके मन को संतुष्ट करने तथा नन्द-यशोदा की तपस्या के फल को पूर्ण करने के लिए भगवान् मथुरा से ब्रज को गये। इस तरह वे कंस से अलग हो गये। वहाँ जाकर भगवान् ने क्या किया? नन्दादि गोप इन्द्र की पूजा किया करते थे। भगवान् ने कहा - 'इन्द्र की

पूजा करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे देवता तो गिरिराज गोवर्द्धन हैं। उन्होंने इन्द्र की पूजा छुड़ाकर इन्द्र का मान मर्दन किया और गिरिराज गोवर्द्धन की पूजा करवायी।

‘स्वराट् माने स्वेनैव राजते।’ फिर इतना ही नहीं ‘तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये’। एक बार भगवान् श्रीकृष्ण ग्वाल बालों के साथ वन भोजन कर रहे थे। बालकों जैसी क्रीड़ायेँ कर रहे थे। ब्रह्मा उन्हें देखने आए। भगवान् की बाल लीलाओं को देखकर उन्हें मोह हो गया। वे सोचने लगे कि यह कैसे भगवान् हैं ? ग्वाल बालकों का जूठा खा रहे हैं। भगवान् की लीला तो बड़ी विचित्र है -

उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति ।

पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि विमुख न धर्म रति ॥

(श्रीरामचरितमानस अ. का. सो. १)

भगवान् का गूढ़ चरित्र भगवान् से विमुख लोगों को समझ में नहीं आता। उस समय भगवान् ग्वालबालों के साथ हँस रहे थे, खेल रहे थे। जूठा खिला रहे थे, खा रहे थे। उन्हें देखकर ब्रह्मा को लगा ‘इतने बड़े परमात्मा और साधारण अहीर के ये बालक ? इनके साथ धृष्टता कर रहे हैं, अपना जूठा इन्हें खिला रहे हैं और कह रहे हैं - ‘लो खाओ।’ ग्वाल बाल कह रहे हैं - ‘देखो हमारा दही कैसा है।’ चखकर भगवान् कहते हैं - ‘तेरा तो खट्टा है।’ किसी को कहते हैं - ‘तेरा तो बड़ा मीठा है।’ उनका यह खेल देखकर ब्रह्मा जी के मन में मोह हो गया कि ये परमात्मा हैं या साधारण बालक ?

भगवान् की परीक्षा लेने के लिए ब्रह्मा ने उनके बछड़ों को चुरा लिया और उनको मूर्च्छित करके ब्रह्मगुफा में सुला दिया। जब भगवान् बछड़ों को खोजने गये तो ब्रह्मा ने इधर ग्वाल-बालों को भी मूर्च्छित करके वहीं सुला दिया। भगवान् ने देखा कि बछड़े भी नहीं हैं और ग्वाल-बाल भी नहीं हैं। भगवान् ने ध्यान किया तो ब्रह्मा की करतूत समझ में आ गई। तब भगवान् ने ब्रह्मा के अभिमान को तोड़ने के लिए स्वयं अपने आपको ग्वाल-बाल और बछड़े के रूप में बना लिया। जिसका जिस-जिस तरह का वस्त्र-आभूषण आदि था, उसी तरह के ग्वाल-बालों और बछड़ों के रूप में भगवान् बन गये। वही बछड़े बन गये और

वही ग्वाल-बाल बन गये । एक वर्ष तक ग्वाल-बाल बनकर अपने स्वरूप में ही रहकर भगवान् ने उन गाय बछड़ों को चराया । मानो भगवान् ने ब्रह्मा को यह बतला दिया कि 'मैं किस प्रकार' एक होकर अनेक हो जाता हूँ । वेद के तत्त्व 'एकोऽहं बहु स्याम' को भगवान् श्रीकृष्ण ने लीला के द्वारा दिखला दिया 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' आदि कवि ब्रह्मा के हृदय में ज्ञान करा दिया ।

जब ब्रह्मा जी आये तो उन्होंने देखा कि अरे, हमने तो ग्वाल बालों और बछड़ों को ब्रह्म गुफा में मूर्छित करके सुला दिया था और वही ग्वाल-बाल, बछड़े यहाँ खेल रहे हैं । ब्रह्मा गुफा में गये वहाँ देखा कि सभी ग्वाल-बाल, बछड़े सो रहे हैं । यहाँ आकर देख रहे हैं तो सभी ग्वाल-बाल खेल रहे हैं । बछड़े चर रहे हैं । दोनों तरफ ग्वाल बाल को देखकर वे भ्रमित हो गए । ऐसा ही भ्रम माता कौशल्या को भी हुआ था ।

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मति भ्रम मोर कि आन विसेषा ॥

(श्रीरामचरितमानस बा. का. दो. २०० के बाद चौ. ७)

तब भगवान् ने उन ग्वाल-बाल और बछड़ों का रूप दिखाया । '**सत्य ज्ञानानन्दाश्रयैकरसमूर्तयः**' सबके सब ज्ञानानन्द की रसमयी मूर्ति हैं । बड़े-बड़े उपनिषद् द्रष्टाओं को उनके माहात्म्य का ज्ञान नहीं होता ।

प्रत्येक ग्वाल-बाल साक्षात् परब्रह्म हैं, बछड़े साक्षात् परब्रह्म हैं । इस तरह भगवान् ने ब्रह्मा को वेद के तत्त्व का ज्ञान करा दिया ।

'**मुह्यन्ति यत् सूरयः**' माने बड़े-बड़े विद्वान् जिनकी लीलाओं को देखकर मोहित हो जाते हैं ।

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह ।

कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानन्द संदोह ।

(श्रीरामचरितमानस उ. का. दो. ७७)

भगवान् का सगुण रूप निर्गुण की अपेक्षा दुर्गम है -

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानै कोइ ।

सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन-भ्रम होइ ॥

(श्रीरामचरितमानस उ. का. दो. ७३)

निर्गुण में एकरसता है । एक बार यदि उसका बोध हो गया तो संशय नहीं

होता । लेकिन भगवान् के जो सगुण चरित हैं, उनको देखकर व्यक्ति कई बार मोहित हो जाता है ।

जब मेघनाद के साथ भगवान् श्रीराम का युद्ध हुआ तब युद्ध में मेघनाद ने भगवान् श्रीराम पर नाग पाश छोड़ दिया । नाग पाश से भगवान् बँध गये । उनको बँधा देखकर गरुड़ जी को मोह हो गया - 'अरे यह कैसे भगवान् ?

भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम ।

खर्व निसाचर बाँधेउ नाग-पास सोइ राम ।

(श्रीरामचरितमानस उ. का. दो.५८)

इस प्रकार से भगवान् के स्वरूप को जानना बड़ा कठिन है इसीलिए कहा-
मुह्यन्ति यत् सूरयः' ।

'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः' भगवान् ने लीला की । तेज दावानल पान कर लिया । दावानल के लगने पर जब भूमि जलने लगी, वन जलने लगे, तब भगवान् ने सबसे कहा - 'आँखे बन्द कर लो' । भगवान् के **'मुखाद् अग्निरजायत'** मुख से अग्नि उत्पन्न हुई है । इसलिए भगवान् ने उनके मुख में ही उसको प्रवेश करवा दिया । तेज और वारि इन दोनों का विनिमय कर लिया ।

कालिन्दी नदी का जल कालिय नाग के विष से दूषित हो गया था । कालिय नाग को मारकर भगवान् ने उसे वहाँ से निकाल दिया और जल को शुद्ध कर दिया ।

'मृदां यथा विनिमयः' ।

एक बार भगवान् ने मृत्तिका खा ली । ग्वाल-बालों ने आकर माता यशोदा से शिकायत की 'मैया ! तेरे बेटे ने मिट्टी खायी है' । यशोदा भगवान् से पूछने लगीं - 'लाला तैने माटी खायी? भगवान् ने कहा - 'नहीं ।' यशोदा ने छड़ी उठाई, कृष्ण के दोनों हाथ पकड़े और कहा - 'क्यों रे चटोरे ! तूने मिट्टी क्यों खायी?' भगवान् देखकर डर गये । मैया छड़ी मारेगी । बोले - 'मैया तुझसे किसने कहा है?' माँ ने कहा - 'सभी ग्वाल बाल कह रहे हैं ।' भगवान् बोले - 'मैया हमारे दुश्मन भी तो बहुत हैं ।' माँ ने कहा - 'नहीं, जो तेरे साथ खेलते हैं, वे कह रहे हैं कि तूने मिट्टी खायी है ।' भगवान् बोले - 'मैया आजकल उनसे हमारा झगड़ा हो गया है ।' माँ बोली - 'ये ही नहीं, तेरा बड़ा भाई दाऊ भी तो बोल रहा है ।'

भगवान् ने कहा - 'माँ ! वे सब झूठ बोल रहे हैं । मैंने मिट्टी नहीं खायी है ।'

इस घटना में वेदान्ती लोग यह अर्थ निकालेंगे कि 'नाहं भक्षितवानम्ब (श्रीमद्भागवत १०/८/३५) अर्थात् नाहं बाह्यं किञ्चित् भक्षितवान् । माने, माँ ! मैंने बाहर का कुछ भी नहीं खाया, सब कुछ मेरे भीतर ही तो है । सारे संसार का अधिष्ठान मैं हूँ । मैं क्या खाऊँगा? खाने की क्रिया में बाहर की खाद्य वस्तु को मुख द्वारा शरीर के अन्दर किया जाता है । यहाँ तो सब अन्दर ही है । बाहर की कोई चीज अन्दर की ही नहीं गई है । भगवान् ठीक ही तो कह रहे हैं - 'सर्वे मिथ्याऽभिर्शंसिनः (श्रीमद्भागवत १०/८/३५) । किन्तु ग्वाल-बाल विचारे जैसा देख रहे हैं, वैसा बोल रहे हैं । भगवान् ने कहा- 'वस्तुतः मुझमें खाना-पीना है ही नहीं ।'

किन्तु ममतामयी यशोदा कहाँ समझ पातीं ? वह तो भगवान् को छड़ी दिखा रही थी । उसी रूप में भगवान् भी माँ यशोदा की छड़ी देखकर डर गए और फिर बोले - 'हमने मिट्टी खायी ही नहीं' । सब झूठ बोल रहे हैं । यशोदा जी ने कहा - 'मुझे तेरी बात में विश्वास नहीं है । तू झूठ बोला करता है ।' भगवान् ने कहा - 'हाँ मैया ! दाऊ दादा ही तेरा बेटा है, मैं थोड़े ही हूँ । उसकी हर बात मानती है । वह जो तेरा बेटा ठहरा । मैं तेरा बेटा नहीं हूँ न ! इसलिए तू मेरी बात में विश्वास नहीं रखती ।' आज यह लटका भी नहीं चला ।

भगवान् पुनः बोले - 'यदि सत्यगिरस्तिर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् (श्रीमद्भागवत १०/८/३५) । अर्थात् यदि उनकी बात सत्य है तो मेरा मुख सामने है । देख क्यों नहीं लेती । भगवान् श्रीकृष्ण ने यह सोचा था कि जब हम यह कहेंगे कि मेरा मुख देख ले तब माँ कह देगी अच्छा-अच्छा ठीक है । लेकिन यशोदा जी कहने लगी - 'खोल मुँह ।' भगवान् ने अपना मुँह दबाया पर यशोदा जी नहीं मानीं ।

कवि लोग कहते हैं कि माता यशोदा का क्रोध सूर्य की किरणें हैं और श्रीकृष्ण का मुख कमल । कमल तभी तक बन्द रहता है जब तक उस पर सूर्य की किरणें नहीं पड़ जाती । माता यशोदा की क्रोध की किरणों के पड़ने पर भगवान् श्रीकृष्ण का मुख कमल खुल गया । भगवान् की लीला शक्ति ने समस्त विश्वप्रपंच को उनके मुख में दिखला दिया । 'यत्र त्रिसर्गोऽमृषा' भगवान् के मुख में माँ

यशोदा को 'त्रिसर्ग अमृषा' दिखने लगे ।

चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र आदि सभी कुछ भगवान् श्रीकृष्ण के मुख में यशोदा जी ने देख लिया । माता यशोदा ने उनके मुख में गोकुल को और गोकुल में भगवान् श्रीकृष्ण जिस स्थान पर खड़े हैं उन सबके साथ-साथ अपने आपको भी देखा कि मैं छड़ी लेकर कृष्ण को डाँट लगा रही हूँ । यह सब कुछ देखकर यशोदाजी मूर्च्छित हो गई । कहने का मतलब यह है कि 'उस परमात्मा में यह सारा प्रपञ्च झूठा नहीं सच्चा है' ऐसा भगवान् ने मैया को दिखा दिया । बड़े-बड़े कपटी स्वभाव वाले जो वीर थे । अघासुर, वकासुर, प्रलंबासुर जैसे सभी दैत्य भगवान् को मारने के लिए आए किन्तु भगवान् के तेज से वे सबके सब नष्ट हो गये । भगवान् श्रीकृष्ण ही वह परमतत्त्व परमात्मा हैं, जिनका हम सदैव ध्यान करते हैं।

आज के दिन इतना ही कहकर अपना प्रवचन पूर्ण करते हैं । अब थोड़ा सा भगवान् का नाम ले लें ।

श्रीराम जय राम जय जय राम
श्रीराम जय राम जय जय राम
श्रीराम जय राम जय जय राम
गोविन्द जय जय गोपाल जय जय
राधा रमण हरि गोविन्द जय जय ।

परमार्थ-पथ

मनुष्य अपनी समस्त चेष्टाओं के द्वारा दुःखों की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति चाहता है। सुख की इच्छा मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है। सुख के साधनों की इच्छा कृत्रिम और परिवर्तनशील होती है। सुख के साधनों के प्रति प्राणी का राग अव्यवस्थित होता है। जो प्राणी या पदार्थ आज सुख का साधक प्रतीत होता है वही कल सुख का बाधक प्रतीत होने लगता है। इसी कारण उसकी प्रियता परिवर्तित होती रहती है। जीवन में ऐसे अनेकों अवसर आते हैं जब अत्यन्त प्रिय व्यक्ति अप्रिय और अप्रिय व्यक्ति प्रिय हो जाते हैं। मित्र शत्रु और शत्रु मित्र बन जाते हैं। पर यह स्थिति सुख के साधनों की है, सुख की नहीं। सुख कभी अप्रिय नहीं होता। सुख के साधनों के प्रति भ्रान्त धारणा के कारण ही कभी किसी प्राणी या पदार्थ में राग या किसी में द्वेष होता है। अध्यात्म-शास्त्रों में प्रज्ञापराध को दुःखों का कारण बताया गया है। अपनी बुद्धि को स्वच्छ और सन्तुलित न रख पाना ही प्रज्ञापराध है। प्रज्ञापराध अर्थात् उचित-अनुचित के अविवेक से धर्म में अधर्म बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि हो जाती है। फलतः जहाँ प्रवृत्ति होनी चाहिए वहाँ प्रवृत्ति और जहाँ से निवृत्ति होनी चाहिए वहाँ निवृत्ति नहीं होती। यही कारण है कि जिससे प्राणी सुख चाहते हुए भी दुःख पाता है। अतः यह आवश्यक है कि इस प्रज्ञापराध को मिटाया जाय। इसके कारण ही हम कभी किसी को पकड़ते और किसी को छोड़ते हैं। अनन्त जन्मों से यही क्रम चल रहा है।

वस्तुतः विचार करके देखा जाय तो बाह्य साधनों की अपेक्षा सुख-दुःख का सम्बन्ध मन से अधिक है। बाह्य साधनों से तभी तक सुख मिलता है जब तक मन प्रसन्न रहता है। मन के शोक-मोह से ग्रस्त रहते अनुकूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध प्राप्त होने पर भी प्राण को सुखी नहीं बना पाते। दुःख के साधन भी को ही अधिक प्रभावित करते हैं। रोग, अप्रिय घटनाओं की प्राप्ति, अधिक परिश्रम और प्रिय वस्तुओं का वियोग इन चार कारणों से शारीरिक दुःख प्राप्त

होता है । समय पर इन चारों का प्रतिकार करना एवं कभी भी इनका चिन्तन न करना यह दुःख निवारक उपाय है । अतः बुद्धिमान् वैद्य प्रिय वचन बोलकर तथा हितकर भोगों की प्राप्ति कराकर पहले मनुष्यों के मानसिक दुःखों का ही निवारण किया करते हैं । जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला डाल देने पर घड़े का शीतल जल भी गरम हो जाता है, उसी प्रकार मन में दुःख होने पर शरीर भी सन्तप्त होने लगता है । इसलिए जैसे अग्नि को शीतल करने के लिए उसमें जल डालकर उसे शान्त किया जाता है उसी प्रकार ज्ञान से मानसिक दुःख को शान्त करना चाहिए । मन का दुःख मिट जाने पर शरीर का दुःख भी दूर हो जाता है । मन के दुःख का मूल कारण संसार में आसक्ति है । आसक्ति से ही भय होता है । शोक, हर्ष तथा क्लेश इन सबकी प्राप्ति भी आसक्ति भी आसक्ति के कारण ही होती है । आसक्ति से ही विषयों में भाव और अनुराग होते हैं । विषयों के प्रति भाव को महान् अनर्थकारक माना गया है । आसक्ति धर्म और अर्थ दोनों का नाश कर देती है । राग का ही दूसरा नाम आसक्ति है, इसी से काम इच्छा और तृष्णा की उत्पत्ति होती है । मनुष्य के जीर्ण हो जाने पर भी तृष्णा जीर्ण नहीं होती, इसका त्याग किये बिना किसी को शान्ति नहीं मिल सकती ।

साथ ही दुःसङ्ग का त्याग किये बिना मन की शुद्धि नहीं हो सकती । एक बार आग को छूकर भले ही मनुष्य जलने से बच जाय पर आग में गरम किये गये लोहे को छूने पर बिना जले नहीं रह सकता । संसर्ग से मनुष्य में गुण दोषों की उत्पत्ति होती है ।

मन में अनेक प्रकार के संस्कार सञ्चित होते हैं, पर उनके अनुसार प्रवृत्ति तभी होती है जब वे उद्बुद्ध हों । संस्कारों का उद्बोध संग से ही होता है । यह नियम है कि नीच के संग से बुद्धि नीच, मध्यम के संग से मध्यम और उत्तम पुरुषों का संग करने से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती है ।

गुण दोषों के ज्ञान के लिए बुद्धि की शुद्धि अपेक्षित होती है । जिसकी बुद्धि मलिन होती है वह मलिन वस्तु को उत्तम समझता है । पर उत्तम पुरुषों की बुद्धि शुद्ध होती है उनका विवेक सदा जाग्रत होता है, उनकी शिक्षा आचरणीय और चरित्र अनुकरणीय होते हैं । दुःसंग के त्याग और सत्संग के द्वारा जब बुद्धि के दोष दूर होते हैं तब पता लगता है कि सच्चा सुख क्या है और किन उपायों से उसकी

प्राप्ति होती है ।

वस्तुतः सच्चा सुख भगवान् का ही स्वरूप है और उसकी प्राप्ति का साधन मन की निर्मलता है । मन स्वभावतः निर्मल है । राग-द्वेष, शोक-मोह, काम-तृष्णा से उसमें मलिनता आ जाती है । मन की बहिर्मुखता ही उसकी मलिनता है । भगवत्कथाश्रवण, भगवद्भक्ति, शमदमादि साधन और आध्यात्मिक साधनों से मन की बहिर्मुखता दूर होती है । जब मन अन्तर्मुख हो जाता है तो उसको अपने ही भीतर सुख का खजाना मिल जाता है । तब तो वह कृतकृत्य होकर सभी इच्छाओं का त्याग कर देता है । इसी को मुक्ति कहते हैं ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः ।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

अर्थात् बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है । विषयासक्त मन बन्धन का और निर्विषय मन मोक्ष का कारण होता है । यही परमार्थ पथ है जिसको समझे बिना मनुष्य के पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती । इसका ज्ञान परमार्थ-पथ में परम प्रवीण सत्पुरुषों के सत्संग से ही होता है । सत्संग से ही विचार का उदय होता है और विचार से मोह की निवृत्ति होती है । हमें इसी मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए ।

आत्मा से ही आत्मा का उद्धार

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है - 'मनुष्य को चाहिये कि आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उद्धार करे, आत्मा का विनाश न होने दे, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है । जिसने आत्मा के द्वारा आत्मा को जीत लिया उसका आत्मा उसका मित्र और इसके विपरीत आत्मजय के बिना ही आत्मा, आत्मा का शत्रु बन जाता है ।' यहाँ आत्मा का अर्थ अन्तःकरण है । मनु-बुद्धि-चित्त और अहंकार अन्तःकरण के ही चार भेद हैं । अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के समष्टि सात्विक अंश से निर्मित होने के कारण अन्तःकरण साक्षी-चैतन्य का आभास (प्रतिबिम्ब) ग्रहण कर लेता है । यही चैतन्य का आभास जीव कहलाता है । जब किसी सरोवर में रात्रि के समय चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब यदि सरोवर का जल निर्मल और निस्तरङ्ग रहा तो चन्द्रमा का आभास भी निर्मल निश्चल तथा जल के मलिन और चंचल होने पर मलिन और चंचल प्रतीत होता है । चन्द्रमा के आभास से मलिन, चंचल प्रतीत होने पर आकाश में स्थित चन्द्रमा में भी चंचलता और मलिनता का आरोप होने लगता है । इसलिये अन्तःकरण का स्वच्छ और शान्त होना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है । यह तभी सम्भव होता है जब अन्तःकरण इन्द्रियों का अनुसरण न करके उनको अपने नियन्त्रण में रखता है ।

इस विषय को कठोपनिषद् में रथ का रूपक देकर समझाया गया है । वहाँ कहा गया है कि आत्मा (जीव) रथी है, शरीर रथ है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह पाँच विषय गन्तव्य हैं, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है । यदि बुद्धि रूपी सारथी अप्रमत्त होकर सावधानी से मन की लगाम को थाम कर रखता है तब तो ठीक है अन्यथा थोड़ी सी असावधानी से इन्द्रिय रूपी घोड़े रथ-रथी दोनों को पतन के गर्त में डाल देते हैं । विषयों के पार विष्णु का परमपद है । जो इनके प्रलोभन में नहीं पड़ता वह उसको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है । आत्मनियन्त्रण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य की उन्नति में सहायक है ।

व्यावहारिक जीवन में भी वही सफल होता है जो विचार पूर्वक निर्णय ग्रहण करता है। विचार करके उचित समय पर उचित शब्दों में बोलता है तथा विचार-पूर्वक कार्य करता है।

‘सहसा विदधीत न क्रियाम्’ एकाएक कोई कार्य न करे। मानस में भी आता है - ‘सहसा करि पछिताहिं विमूढ़’। पर जीवन में कभी-कभी ऐसे भी अवसर आते हैं जब मनुष्य को तत्काल निर्णय लेकर कार्य करना पड़ता है, विलम्ब से हानि होती है। ऐसे अवसरों पर भी धैर्य और सूझ-बूझ आवश्यक है जो असन्तुलित मन में नहीं होते। धैर्य का ही सूक्ष्मरूप धृति है। जिस धृति से शान्त, एकाग्र अन्तःकरण के द्वारा मन प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएं धारित होती है, वह धृति सात्विक है, और जिसके कारण स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को बुद्धि नहीं छोड़ पाती उस धृति को तामसी माना जाता है।

मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण जीवन की किसी एक घटना या कार्य से नहीं वरन् चिरकाल तक की जाने वाली साधना से होता है। जैसे किसी नदी या नहर की जलधार को मोड़ने के लिये कुशल अभियन्ता बहुत पहले से ही धक्के बनाते हैं। गाड़ियों के सुव्यवस्थित संचार के लिये सड़कों में मोड़ दिये जाते हैं। उसीप्रकार अपने चरमलक्ष्य की ओर साधना पथ पर चलने वालों को पहले से स्वयं को तैयार करना पड़ता है। यदि कोई साधक ध्यान में अपने मन को समाहित पाता है तो यह नहीं समझना चाहिये कि यह स्थिति आकस्मिक है। वस्तुतः ऐसी स्थिति समग्र जीवन की साधना का परिणाम होती है।

सामूहिक सामाजिक जीवन में यदि कोई अच्छी स्थिति आती है तो वह उस देश और समाज की धार्मिकता, संस्कृति और सदाचार के पालन की लम्बी सतत-साधना का ही फल है। किसी एक के प्रयास की आकस्मिक परिणति नहीं है। राम के राज्य की सुव्यवस्था जादू से नहीं, धर्मनिष्ठा से निर्मित हुई थी। आत्मनियन्त्रण के अभाव में ही मनुष्य राग-द्वेष, ईर्ष्या, मद और मोह के वश होकर भटक जाता है।

इन्द्रियों के भोगों से प्राणी को जो सुख मिलता है उससे कई गुना उनके संयम से प्राप्त होता है। जिसको आध्यात्मिक सुख-स्वाद मिल जाता है वह विषय सुख की मृगतृष्णा में नहीं भटकता। ‘नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति’।

आज का व्यक्ति समाज की सभी समस्याओं का हल आध्यात्मिक साधना के द्वारा स्वयं को अन्तर्मुख बनाने में ही निहित है । हम प्रवाह में निष्क्रिय हो कर बहते रहें यह जीवन का लक्षण नहीं है । जीवन का लक्षण है तैर कर प्रवाह को पार करना ।

चौबीस घण्टों में कुछ पलों के लिए ही सही, मन को निर्विकार और शान्त बना दिया जाय । यह तभी सम्भव है जब हम नियमित रूप से भगवान् का स्मरण, चिन्तन और ध्यान करें अथवा आत्मस्वरूप में मन को स्थिर करें ।

यही हमारी स्वस्थता और सफलता है । यही परमयोग है । दान, स्वधर्म पालन, नियम, दम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत इन सब का फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान् में लग जाए ।

‘परो हि योगो मनसः समाधिः’

मन का समाहित हो जाना ही परम योग है । व्यक्ति और समाज का उत्थान इसी से सम्भव है, और यह उसे स्वयं ही करना है ।

निर्मल मन जन सो मोहिं पावा

सभी प्राणी सुख की इच्छा से विविध कर्मों में प्रवृत्त होते हैं पर उनको सुख की प्राप्ति नहीं होती । कारण यह है कि वे सुख के स्वरूप पर विचार नहीं करते । सामान्य जन भौतिक पदार्थ, प्राणी या चित्त की अवस्था विशेष को ही सुख समझकर उनको सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करते हैं । पर जब उनको पाकर भी उन्हें स्थिर सुख नहीं मिलता तो पुनः उसी प्रकार का प्रयत्न करते हुए विफल मनोरथ हो जाते हैं । विचार करके देखा जाय तो पता लगेगा कि सुख साध्य नहीं किन्तु सिद्ध है । प्रयत्न से वह वस्तु प्राप्त होती है जो साध्य हो । साध्य उसको कहते हैं जो उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य होता है । उत्पाद्य उसको कहते हैं जो कालान्तर में प्राप्त होता है जैसे भूमि को जोतने और बीज बोने से अन्न उत्पन्न होकर कालान्तर में प्राप्त होता है और जैसे पुण्य कर्म करने से परलोक में स्वर्ग और इस लोक में पशु, पुत्र, धन आदि की प्राप्ति होती है । देशान्तर में जिसकी प्राप्ति होती है उसको आप्य कहते हैं । जैसे हम चलकर जिस किसी गन्तव्य तक पहुँचते हैं वह हमारे लिये आप्य है । जो किसी पदार्थ का परिणाम होता है वह विकार्य कहलाता है जैसे दूध का परिणाम दही होता है । संस्कार्य उसको कहते हैं, जो संस्कार से परिष्कृत किया जाता है जैसे हीरे को खरीदकर उसमें चमक लायी जाती है या दर्पण के मलिन हो जाने पर उसको पोंछ कर स्वच्छ किया जाता है ।

जो वर्तमान में नहीं है वही उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य होकर साध्य बनता है । सुख को इसी प्रकार का समझकर जन सामान्य उसको सम्पादित करने के लिए विविध प्रकार के उपायों में लगे रहते हैं । किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है । सुख अपना स्वरूप ही है और सब प्रकार की चेष्टाओं की उपरति उसका शरीर है ।

जब पाँचों इन्द्रियाँ मन के सहित निश्चेष्ट हो जाती हैं तब उस अवस्था में सहज-सुख की अभिव्यक्ति होती है । सुख उत्पन्न नहीं होता केवल उसकी अभिव्यक्ति होती है । प्रयत्न अभिव्यक्ति के लिए किये जाते हैं उत्पत्ति के लिए

नहीं। जितने भी साधन हैं, वे सब अन्तःकरण को निर्मल बनाने में सहायक हैं। क्योंकि स्वच्छ और शान्त अन्तःकरण में ही परमानन्द-स्वरूप आत्मा की छाया पड़ती है। जैसे सूर्य की किरणें सर्वत्र समान रूप से पड़ने पर भी उनकी जितनी चमक जल या काँच में दिखलाई पड़ती है उतनी और कहीं दिखलाई नहीं पड़ती। उसी प्रकार आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा भी सर्वव्यापक होने पर भी स्वच्छ अन्तःकरण में ही सुस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

सम्पूर्ण भूतभौतिक जगत् की उत्पत्ति अविद्योपाधिक ब्रह्म से होती है। निरुपाधिक ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है। अविद्या सबल होने पर ही वह 'सत्' शब्द का वाच्य बनता है। सृष्टि के प्रारम्भ में केवल 'सत्' ही था। **'सदैव सौम्य इदमग्र आसीत्'** अर्थात् यह नाम रूप क्रियात्मक जगत् सृष्टि के पूर्व सत् ही था। सत् की उपाधि अविद्या को ही अज्ञान, माया, प्रकृति आदि शब्दों से जाना जाता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है। तीन गुण हैं - सत्त्व, रज और तम। प्रकृति के तीन गुण अन्तःकरण में भी रहते तथा क्रमशः घटते बढ़ते हैं।

जब तमोगुण बढ़ता है तब निद्रा, आलस्य, प्रमाद की अधिकता हो जाती है। रजोगुण के बढ़ने पर काम, क्रोध, लोभ तथा विविध कर्मों में प्रवृत्ति होती है और जब सत्त्वगुण बढ़ता है तब इन्द्रियों में सचेतनता और अन्तःकरण में ज्ञान एवं सुख की वृद्धि होती है।

जैसे चञ्चल और मलिन सरोवर में पड़ने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब भी चञ्चल और मलिन दिखलाई पड़ता है, किन्तु सरोवर के स्वच्छ और निस्तरङ्ग होने पर उसका स्वाभाविक स्वच्छ और शान्त रूप सरोवर के जल में प्रतिबिम्बित होकर प्रतीत होता है। उसीप्रकार अन्तःकरण की स्वच्छता और निश्चलता आत्म-तत्त्व के स्फुरण में सहायक होती है। इच्छित और अनुकूल विषय के प्राप्त होने पर मन के क्षणभर के लिए शान्त और स्वच्छ हो जाता है। ऐसा होने पर जो सुखानुभूति होती है नासमझी से लोग उसे विषयजन्य समझ बैठते हैं। वस्तुतः, वह जन्य नहीं है, केवल परमानन्द स्वरूप आत्मा की एक क्षणिक अभिव्यक्ति है। उस क्षणिक सुख में विषयजन्यता की भ्रान्ति से सुख के इच्छुकों की विषयों के प्रति आसक्ति और इन्द्रियों की परतन्त्रता बढ़ती है। इस कारण विचारवान् पुरुष इसको त्याज्य समझकर इससे विरक्त हो जाते हैं।

जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर देह गेह में अहन्ता ममता कर लेता है, तब इसको अपनी अपूर्णता से ग्लानि होती है। इसी को 'अरति' कहते हैं। इसी अरति के कारण यह किसी प्राणी या पदार्थ की कामना करता है। मन में कामना का उदय होते ही जब तक वह पूर्ण नहीं हो जाती तब तक कांटे जैसी चुभती रहती है। उस चुभन को मिटाने के लिए वह काम्य वस्तु को प्राप्त करने के लिए आतुर होकर प्रयत्न करता है, और जब पूर्व जन्म के कर्मवशात् उसको इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तब उसका मन अन्य इच्छा के अभाव में शान्त और प्राप्तिजन्य हर्ष से क्षणभर के लिए सत्त्वगुण के कारण स्वच्छ हो जाता है पर जैसे ही दूसरी कामना का उदय होता है स्थिति पूर्ववत् हो जाती है। अध्यात्मवेत्ताओं का सिद्धान्त है कि अन्तःकरण को निर्मल तथा निश्चल बनाने के लिए कामना करके उसकी पूर्ति के प्रयास की अपेक्षा कामनाओं की निवृत्ति के लिए प्रयास करना श्रेष्ठ है।

अन्त में तो कामना की पूर्ति के पश्चात् कामना की निवृत्ति ही होती है। कामनाओं की निवृत्ति के लिए आत्मा की परिपूर्णता के साक्षात्कार की आवश्यकता है। ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए बहिर्मुखता का त्याग आवश्यक होता है। प्रवृत्ति से जितना सुख अनुभूत होता है, उससे कई गुना सुख निवृत्ति से अनुभूत होता है। इसीलिए कहा गया है -

न चेन्द्रस्य सुखं किञ्चित् न सुखं चक्रवर्तिनः ।

सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ॥

अर्थात् न तो इन्द्र को किञ्चित् सुख है और न चक्रवर्ती सम्राट् को ही सुख है। सुख है तो केवल एकान्तजीवी विरक्त मुनि को है।

निवृत्ति से अनुभूत होने वाला सुख भी प्रवृत्ति होने पर नष्ट हो सकता है पर आत्मसाक्षात्कार से जिसने अपने स्वरूपभूत सहज सुख का अनुभव कर लिया उसका सुख अखण्ड और अनन्त होता है। पर इसके लिए प्रबल वैराग्य की अपेक्षा होती है। शान्त, दान्त, उपरत और तितिक्षु ही इस पथ का पथिक होता है।

इससे सरल भक्तिमार्ग है। भक्ति में अपने इष्टदेवता के प्रति परम प्रेम ही उन सभी अवस्थाओं का अनुभव करा देता है, जिनके लिए योगी और ज्ञानी प्रयत्नशील रहते हैं। प्रेम की व्याख्या करते हुए महर्षि शाण्डिल्य ने कहा है - 'गुण-रहितं

कामना-रहितं प्रतिक्षणवर्धमानं अनर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं मूकास्वादनवत्' । अर्थात् जो भगवत् सम्बन्धी प्रेम गुणों और कामनाओं से रहित होता है, और जो प्रतिक्षण बढ़ता ही जाता है ऐसे प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है । गुंगे के स्वाद के समान । प्रेम से भाव समाधि लग जाती है, जिसमें अपने इष्ट देवता के रूप में उसी परमत्व का अनुभव होता है जो ज्ञानियों का ज्ञेय ब्रह्म है ।

निराकार, निर्विकार चित्त की ब्रह्मकारता ज्ञान है, और द्रवित अन्तःकरण की भगवदाकारता भक्ति है । ज्ञानियों के ज्ञेय और भक्तों के भजनीय में कोई अन्तर नहीं है । दोनों में चित्त की शुद्धि अपेक्षित है । शरीर का मल जल से दूर होता है, पर चित्त का मल धर्म का पालन करने से ही दूर हो सकता है । धर्म, सामान्य और विशेष भेद से दो प्रकार का होता है । सामान्य धर्म का पालन मानव मात्र कर सकता है । श्रीमद्भागवत में सामान्य धर्म के तीस लक्षण बतलाये गये हैं, सत्य, दया, तप, पवित्रता, तितिक्षा, उचित-अनुचित का विचार, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी महात्माओं की सेवा, ग्राम्य चेष्टाओं से शनैः शनैः उपरति, मनुष्यों की विपरीत चेष्टाओं की निष्फलता का विचार, मौन, आत्मविचार, सब प्राणियों को अन्न आदि का यथायोग्य वितरण, सबको अपने इष्टदेव का रूप समझना, परमाराध्य परमेश्वर के चरित्रों, गुणों और नाम का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, प्रणाम, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन यह तीस धर्म सामान्य धर्म हैं ।

मनु के अनुसार - धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, मनोनिग्रह, ज्ञान, विज्ञान, सत्य, अक्रोध यह दस धर्म सब के लिए हैं । सामान्य धर्म विशेष धर्म का आधार है । विशेष धर्म, वर्ण और आश्रम के अनुसार अपने-अपने कर्तव्य पालन को कहा जाता है । यदि निष्काम भाव से इनका पालन किया जाये तो शीघ्र ही चित्त की शुद्धि हो जाती है ।

शास्त्रों के विधान के अनुसार सकाम कर्मों से चित्त की शुद्धि होती है । क्योंकि शास्त्रों को मानने वाला निषिद्ध (पाप जनक) कर्मों का त्याग कर देता है, पर निष्काम कर्मों से तत्काल शुद्धि होती है ।

हमारा प्रयत्न मन को निर्मल बनाकर उसे भगवद्-भक्ति और ब्रह्म साक्षात्कार के योग्य बनाने के लिए होना चाहिए । पवित्र मन में ही भगवत् स्वरूप की स्फूर्ति

होती है ।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।।

निर्मल मन में ही पवित्र भावों और विचारों का उदय होता है । उसी सरोवर की तरङ्गें निर्मल होती हैं, जो स्वच्छ होता है । सहज सुख से ही मन की अशान्ति और चञ्चलता सदा के लिए दूर होती है ।

निज सुख बिनु मन होई कि थीरा । परस कि होइ विहीन समीरा ।।

सुख की अभिलाषा के प्रशमन का यही एक मात्र अचूक उपाय है ।

हमें सुख के लिए भौतिक साधनों के संचय-सम्पादन से विरत होकर आध्यात्मिक साधनों का आश्रय लेना चाहिए । आध्यात्मिक-साधना की अनेक सीढ़ियाँ हैं, इसलिए प्रत्येक स्तर का मनुष्य इनका अनुष्ठान कर सकता है । आइए हम विचार करें और अपने प्रयत्नों को सही दिशा प्रदान करें ।

आत्मकृपा सर्वोपरि

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा उद्धव को समझाते हुए कहा - 'विश्वस्रष्टा परमेश्वर ने विविध प्रकार के पुरों (शरीरों) की रचना की । वृक्ष, शरीसृप, मृग, खग, मत्स्य का निर्माण किया पर उनको किसी से भी सन्तोष नहीं हुआ । जब सबके अन्त में उन्होंने मनुष्य बनाया और देखा कि मनुष्य के भीतर ऐसी बुद्धि है कि जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है तो उन्हें आनन्द का अनुभव हुआ ।' ब्रह्म-साक्षात्कार की क्षमता के कारण ही मनुष्य परमेश्वर की सर्वोत्तम कृति माना जाता है क्योंकि अन्य शरीरों में इस क्षमता का सर्वथा अभाव है ।

अध्यात्म-शास्त्रों में बताया गया है कि ब्रह्मलोक में छाया और धूप के समान माया से विलक्षण ब्रह्म का अनुभव होता है । उससे नीचे के लोकों में चञ्चल और मलिन सरोवर दिखलाई पड़ने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान ब्रह्मदर्शन होता है । इस दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य शरीर का अन्य सभी शरीरों से अधिक महत्त्व है ।

यह भी माना जाता है कि चौरासी लाख योनियों में भटकते-भटकते यह जीव जब परिश्रान्त हो जाता है, तब अकारण-करुण-करुणा-वरुणालय सर्वेश्वर सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर इस जीव की दीन-दशा पर दयार्द्र होकर इसको मानव शरीर देते हैं । इसलिए इसके द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करना इसका परम कर्तव्य होने के साथ-साथ भगवान् के प्रति कृतज्ञता का द्योतक है । जो काम पशु-पक्षियों के शरीर से नहीं हो सकता, मनुष्य शरीर से वही काम करना चाहिए । खाना-पीना, डरना-मरना और सन्तान उत्पन्न करना तो दूसरे शरीरों से भी हो सकता है । इनके लिए मनुष्य देह का उपयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं है ।

ब्रह्म साक्षात्कार केवल कर्तव्य ही नहीं प्राणी का पुरुषार्थ है । पुरुषार्थ उसे कहते हैं, जिसको अपनी सभी चेष्टाओं के द्वारा प्राप्त करने का पुरुष प्रयत्न करता

है । समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति प्राणी का परमपुरुषार्थ है । पर जिस उपाय से वह उसे प्राप्त करना चाहता है वह वास्तविक उपाय नहीं है ।

अनुकूल विषयों में राग और प्रतिकूल विषयों में द्वेष से प्रेरित होकर ही प्राणी दुःखों के परिहार और सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं किन्तु इसका परिणाम विपरीत ही होता है । परिणाम में दुःखद होने, शरीरिक-मानसिक-भौतिक तापों से ग्रस्त होने और प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के अन्तःकरण में परस्पर अन्तर्विरोध के कारण विवेकी पुरुष के लिये विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले भोग दुःखरूप ही हैं ।

प्रकृति के गुणों के हास-विकास से मन की रुचि परिवर्तित होती रहती है यही कारण है जो प्राणी या पदार्थ कभी अत्यधिक प्रिय प्रतीत होता है कालान्तर में वही अप्रिय प्रतीत होने लगता है ।

प्रेम और आनन्द एक साथ देखे जाते हैं । जिसमें प्रेम होता है उसमें आनन्द की अनुभूति होती है । जिसमें हमारा प्रेम होता है हम चाहते हैं वह सदा ही बना रहे उसका अस्तित्व कभी न मिटे ।

प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व की रक्षा करता है वह कभी अपने आप से द्वेष नहीं करता । इससे सिद्ध होता है कि सबसे प्रिय अपनी आत्मा ही है वह सब प्राणियों का परम प्रेमास्पद है और इसी कारण परमानन्दस्वरूप है । सर्वभूतान्तरात्मा और सर्वव्यापी होने के कारण यही परमात्मा कहलाता है ।

देशकाल और वस्तुरूप समस्त जगत् का साक्षी होने के कारण वह देश-कृत, काल-कृत और वस्तुकृत परिच्छेद से रहित होने के कारण बृहत् अर्थात् ब्रह्म के रूप में वर्णित होता है । ब्रह्मतत्त्व के अज्ञान से ही आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भ्रान्ति है । कर्तृत्व-भोक्तृत्व का आत्मा में आरोप होने से ही कर्म होते हैं । कर्म ही जन्म के कारण बनते हैं । जन्म ही जन्म-मरण, शोक-मोह का कारण है । ब्रह्म का बोध अज्ञान के कार्य का जन्म-मरण निवर्तक होता है । इसी से समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है ।

ब्रह्मानुभूति के लिये ब्रह्म जिज्ञासा बहुत आवश्यक है । उत्सुकता और जिज्ञासा में अन्तर है उत्सुकता पूरी न भी हो तो भी कुछ नहीं होता; पर जिज्ञासा

का उदय होने पर जब तक उसकी शान्ति नहीं हो जाती जिज्ञासु व्याकुल रहता है- जैसे किसी के केशों में आग लग जाने पर बिना आग बुझाये उसको शान्ति नहीं मिलती वैसी ही दशा जिज्ञासु की होती है ।

श्रुति कहती है - इस परमात्मा को यज्ञ, दान और तप से जानना चाहिये । इसका तात्पर्य है - निष्काम भाव से यज्ञ, दान और तप करने पर मन शुद्ध होता है और उसके होने पर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है । जिज्ञासु ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर आध्यात्मिक शास्त्रों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है ।

आत्म-कल्याण के लिये चार कृपाओं की आवश्यकता पड़ती है - ईश्वर-कृपा, शास्त्र-कृपा, गुरु-कृपा और आत्म-कृपा । आत्म-कृपा के बिना और सब कृपा अकिञ्चित्कर हो जाती है । इसलिये हमें अपने ऊपर कृपा करनी चाहिये ।

जीव अनादिकाल से 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्' के चक्र में पड़ा है । ईश्वर की कृपा हुई तब मानव शरीर मिला । शास्त्रों ने आध्यात्मिक ज्ञान दे दिया । गुरु ने रहस्य समझाया । अब हमें अपने ऊपर कृपा करनी चाहिये ।

मानव शरीर को सार्थक करने के लिये बद्धपरिकर होकर भगवान् के चरणों में भक्ति रखते हुए गुरु और आत्मा को भगवान् से अभिन्न समझते हुये साधना के पथ पर समस्त विघ्न बाधाओं को पार करते हुए अपने चरम लक्ष्य को सदा सम्मुख रखते हुए परमार्थ पथ पर निरन्तर बढ़ते रहने का प्रयत्न करना चाहिए ।

स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखें

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है - 'आत्मा के द्वारा आत्मा का उद्धार करे, आत्मा का विनाश न होने दें । क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ।' जिसने प्रयत्न-पूर्वक मन, बुद्धि और इन्द्रियों को वश में कर लिया, उसका आत्मा उसका मित्र है और जिसने इन पर नियन्त्रण नहीं किया उसका आत्मा उसका शत्रु है ।

अध्यात्मशास्त्रों में ईश्वर-सृष्टि और जीव-सृष्टि भेद से दो सृष्टि बताई गई है । उनमें जीव के सुख-दुःख का कारण उसकी अपनी सृष्टि है ।

इस विषय में एक दृष्टान्त है - किसी एक ग्राम से दो व्यक्ति व्यापार करके धनोपार्जन करने निकले । दोनों ने परिश्रम करके व्यापार किया पर एक बीच में ही रुग्ण होकर मर गया और दूसरे ने धनोपार्जन में सफलता प्राप्त की, स्वस्थ भी रहा । उसने किसी सन्देशवाहक से अपने घर में अपनी कुशलता और शीघ्र लौटने का तथा अपने साथी की मृत्यु का समाचार उसके घर में सुनाने के लिए कह दिया । पर वह सन्देशवाहक दुष्ट था उसने जिस घर का प्राणी सकुशल था उसके घर में उसकी मृत्यु का और जिसकी मृत्यु हो गई थी उसके घर में उसके सकुशल लौटने का उल्टा सन्देश सुना दिया । परिणाम यह हुआ, जिस घर का व्यक्ति जीवित था उस घर में रोना मच गया और जिस घर का प्राणी मर गया था उसके घर में हर्ष छा गया । इसका कारण यही था - यद्यपि ईश्वर की सृष्टि में वह व्यक्ति जीवित था पर जीव की सृष्टि में मर गया, इसलिए वहाँ रोना मच गया और ईश्वर की सृष्टि में दूसरे के मरने पर भी जीव की सृष्टि में वह जीवित था इसलिये वहाँ हर्ष छा गया । इससे यह निष्कर्ष निकला कि यदि आप सुख शान्ति चाहते हैं तो अपनी सृष्टि सुधारिये ।

सुखित्व-दुःखित्व ही संसार का स्वरूप माना जाता है । अपने से भिन्न प्राणी और पदार्थ में अहन्ता (मैंपना) और ममता (मेरा पना) सुख-दुःख के कारण बनते हैं । जिनमें अहन्ता और ममता होती है उनसे राग, और उनसे विपरीत में द्वेष

होता है । हमारा मन राग और द्वेष से प्रेरित होकर ही यहाँ-वहाँ भटकता है । इन्द्रियाँ भी अनियन्त्रित होने पर मन के भटकने में सहायक होती हैं । पुरुषार्थ इसी में है कि हमारा मन और इन्द्रियाँ हमारे वश में रहें, उच्छृङ्खल न होने पाएं ।

सुख दो प्रकार का होता है - एक सुख वह है जो दुःख के साथ जुड़ा रहता है और दूसरा वह है जो दुःख का सदा के लिए विनाश कर देता है ।

जो सुख बाह्य साधनों से प्राप्त होता है वह दुःख का साथी है क्योंकि अनुकूल विषयों के अभाव और इन्द्रिय-मन की प्रतिकूलता में वह दुःख का कारण बन जाता है । पर जो सुख बाह्य साधनों से निरपेक्ष और सहज होता है, वह स्थायी होता है ।

भोगों के त्याग से मन पवित्र होता है । वासना रहित मन ही पवित्र माना जाता है । वह अतीन्द्रिय सुख दिव्य होता है, जो सदाचार, स्वधर्मपालन, आत्मसंयम, वैराग्य, भगवद्भक्ति, योगाभ्यास और आत्मज्ञान से प्राप्त होता है । वही सहज और स्थायी होता है ।

यह हमारा भ्रम है कि सुख तभी मिलता है जब हमारा मन और इन्द्रियाँ अनुकूल विषयों से जुड़ते हैं । यदि ऐसा ही होता तो सुषुप्ति (गाढ़ी नींद) में हमें सुख का अनुभव क्यों होता है ? सुषुप्ति से उठने पर हम कहते हैं “आज मैं ऐसा सुख से सोया कि कुछ पता ही न रहा ।” वह जिस सुख का स्मरण है वह परमात्मा के मिलन का सुख है । श्रुति कहती है - गाढ़-निद्रा में यह जीव सत् परमात्मा में विलीन हो जाता है यह उसी सहज और साधन रहित सुख का स्मरण है । पर सुषुप्ति में अज्ञान के कारण वह सुख आवृत (ढँका)रहता है । हमें जागरित में उसको अभिव्यक्त करना चाहिये । इसके लिए सर्वप्रथम कर्मयोग का आश्रय लेना पड़ता है । जिस कर्म का उद्देश्य लौकिक सुख न होकर आध्यात्मिक सुख होता है, वह कर्मयोग कहलाता है । कर्म तो सभी करते हैं पर उनका अनुष्ठान यदि परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए होता है तो वही कर्म-योग बन जाता है ।

जैसे नदी की धारा मोड़ने के लिए कुशल विशेषज्ञ दूर से ही उसको बाँधते हैं, उसी प्रकार मन को भी शान्त करने के लिए कर्म के क्षेत्र से ही उसको बाँधना पड़ता है, तभी वह मुड़ पाता है । पर-हित में निरत रहना भी मन को शुद्ध करने का उपाय है ।

जो साधक अपने को उपमा बनाकर दूसरों के सुख-दुःख को देखता है अर्थात् सुख साधनों का सबमें समान वितरण करता है और दूसरों के दुःख में उनकी सहायता के लिए दौड़ पड़ता है, भगवान् श्रीकृष्ण उसको परमयोगी कहते हैं ।

भगवान् की भक्ति से कर्मों को जोड़ना मन के समाधान का सर्वोत्तम मार्ग है ।

शास्त्रानुसार कर्म और उपासना का समुच्चय होना चाहिए, पर ज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय नहीं है । क्योंकि ज्ञानी योगारूढ़ होता है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आध्यात्मिक उद्देश्य की प्रस्थापना से ही हम स्थिर सुख प्राप्त कर सकते हैं । हम दूसरों का अनुकरण ही न करते रहें स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखें भी ।

सत्सङ्ग करें, एकान्त में बैठकर मनन करें और समय को व्यर्थ न जाने दें । व्यवहार को साधना बना लें । इससे दुःख तथा शोक का सदा के लिये अन्त होगा ।

ब्रह्म साक्षात्कार से कृतकृत्यता

विश्वस्रष्टा के द्वारा निर्मित चौरासी लाख योनियों में मनुष्य-योनि को उसकी सर्वोत्कृष्ट कृति माना जाता है क्योंकि उसमें परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करने में सक्षम बुद्धि है जिसको श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'ब्रह्मावलोकधिषण' कहा है । यद्यपि परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण सबके हृदय में विद्यमान है तथापि जैसे सूर्य की किरणें सर्वत्र समान रूप से प्रसृत होने पर भी काँच और भित्ति में अधिक चमकती है । उसी प्रकार मानव की शुद्ध बुद्धि में परमात्मा की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है । लता-गुल्म से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणियों में आत्मा के साथ मन का भी अस्तित्व माना जाता है, फिर भी अविकसित होने के कारण मानवेतर प्राणियों के अन्तःकरणों (मनों) में पर्याप्त स्वच्छता न होने के कारण आत्म-चैतन्य का आभास उतना स्पष्ट नहीं होता जितना मानव मन में होता है ।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कार्य होने के कारण जिसको मन और बुद्धि भी कहा जाता है उस अन्तःकरण में सत्त्व, रज और तम यह तीन गुण होते हैं जिनका क्रमशः हास-विकास होता रहता है । सत्त्वगुण के विकास से ज्ञान और सुख, रजोगुण से काम-क्रोध और कर्मों में प्रवृत्ति तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं ।

मानव के अन्तःकरण में ब्रह्मदर्शन की योग्यता होने पर भी रजोगुण और तमोगुण की अधिकता से प्रतिबद्ध हो जाती हैं । जब सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है तब रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं तभी उसकी योग्यता सफल हो पाती है । मानव का पुरुषार्थ इसी में है कि वह अपनी ब्रह्मावलोकधिषण को सार्थक करने के लिए प्रयत्न करते हुए इस बात पर ध्यान रखे कि यह योग्यता जिसके कारण वह प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, रजोगुण, तमोगुण से दबकर निरर्थक न होने पाये ।

मनुष्य मात्र आनन्द चाहता है । उसके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के सभी

प्रयत्न, सारी दौड़-धूप, आनन्द के लिये ही होती है। जहाँ मनुष्य की प्रियता होती है, वहीं आनन्द की अनुभूति होती है। हमें खोजना है कि हमारा प्रिय क्या है। क्यों कोई वस्तु पहले अप्रिय होकर प्रिय हो जाती है और क्यों कोई प्रिय होकर अप्रिय हो जाती है। वस्तुस्थिति यह है - जिसमें हमारा सोपाधिक प्रेम है उसकी प्रियता परिवर्तित होती रहती है पर जिसमें हमारा निरुपाधिक प्रेम है उसकी प्रियता परिवर्तित नहीं होती, एकरस रहती है। पुत्र, मित्र, धन और स्वजनों तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में हमारा प्रेम सोपाधिक होता है। हम तभी तक उनसे प्रेम करते हैं जब तक वे हमारे सुख में सहायक होते हैं जब हम देखते हैं अब वे हमारे सुख में बाधक हैं, अप्रिय हो जाते हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य का यह कथन- **‘न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवति’** अर्थात् ‘अरे मैत्रेयि ! सबके लिये सब प्रिय नहीं होते बल्कि अपने लिये सब प्रिय होते हैं’ सर्वथा अकाट्य है।

अपनी अन्तरात्मा में हमारा प्रेम निरुपाधिक होता है। जैसे पिता पुत्र के मित्र को पुत्र के समान समझता है पर तभी तक जब तक पुत्र का मित्र पुत्र का शत्रु नहीं हो जाता पुत्र के मित्र के साथ पिता का प्रेम पुत्र के नाते था। यह सोपाधिक प्रेम का उदाहरण है। यहाँ पुत्र का सम्बन्ध ही उसके मित्र के प्रेम की उपाधि है आत्मा के प्रति प्रेम निरुपाधिक है क्योंकि उसके लिये सब प्रिय होते हैं वह किसी के लिये प्रिय नहीं होता। आत्मा के लिये सबकुछ छोड़ा जा सकता। इसी कारण यह माना जाता है कि आत्मा समस्त प्राणियों के निरतिशय (सर्वाधिक) प्रेम का आस्पद (विषय) है। जब यह बात समझ में आ जाती है तब हमारी प्रिय की खोज पूरी हो जाती और तब यह भी स्पष्ट समझ में आ जाता है कि परमप्रेमास्पद होने के कारण आत्मा ही परमानन्द का स्वरूप है।

निषिद्ध कर्मों का त्याग करके जब मनुष्य निष्काम कर्म करता है तब उसके अन्तःकरण की वह मलिनता दूर हो जाती है जिसके कारण मन में दुर्वासनाओं का उदय होता है। जब निष्काम कर्म के अनुष्ठान के साथ भगवद्भक्ति जुड़ जाती है। ऐसी स्थिति में परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने की उत्कट उत्कण्ठा हृदय में जाग्रत होती है। यह उत्कण्ठा जिसे ब्रह्म जिज्ञासा भी कहते हैं साधक को क्षेत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास ले जाती है। सद्गुरु के मार्ग-निर्देशन में जिज्ञासु ब्रह्म का

अन्वेषण करता है। यहाँ किसी अन्य के अन्वेषण से काम नहीं चलता, स्वयं का अन्वेषण ही अनुभूति तक ले जा सकता है। अन्य तत्त्वदर्शीयों के अन्वेषण और तज्जन्त्य अनुभव से साधक को केवल प्रेरणा और दिशा निर्देश ही प्राप्त होता है

परब्रह्म परमात्मा का अन्वेषण प्रारम्भ करने से पूर्व यह जानना आवश्यक होगा कि उसका स्वरूप क्या है ? किसी भी वस्तु का स्वरूप जानने के लिये उसका लक्षण जानना अनिवार्य होता है। जो अव्याप्ति (लक्ष्य के एक देश तक ही सीमित रहना) अतिव्याप्ति (अलक्ष्य में लक्षण चला जाना) और असम्भव (लक्ष्य में लक्षण का न जाना) इन तीनों दोषों में रहित हो उसे लक्षण कहते हैं।

परब्रह्म परमात्मा के दो प्रकार के लक्षण उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण। जिससे यह समस्त विश्वप्रपञ्च उत्पन्न होता है, जिससे इसका पालन (रक्षण) होता है और अन्त में जिसमें इसका लय हो जाता है, वह ब्रह्म है यह तटस्थ लक्षण है। **‘ब्रह्मसत्य, ज्ञान और अनन्त है’** यह स्वरूप लक्षण है। इन लक्षणों को मन में रखकर जब हम देखते हैं तो हमें ब्रह्म का परोक्षज्ञान हो जाता है। पर अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता। अपने आपसे भिन्न रूप से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता क्योंकि वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित होने के कारण इन्द्रियों का विषय नहीं है। हमारा मन भी इन्द्रियों के विषयों को लेकर ही संकल्प विकल्प करता रहता है इसलिए मन का भी विषय नहीं है।

अपरोक्ष ज्ञान में चारों वेदों के चार महावाक्य ब्रह्म और जीव के अभेद का प्रतिपादन करते हुए हमें अपने ही भीतर खोजने का संकेत देते हुए हमारी सहायता करते हैं। अहम् (मैं) का अर्थ ही जीव है। अब यहाँ से अहम् की खोज प्रारम्भ होती है। यहाँ भी यदि हम अहम् से पृथक् होकर अहम् की खोज करेंगे तो हमारा प्रयास हमें भटका देगा। जैसे कोई डॉक्टर मशीन के द्वारा रोगी के शरीर के भीतर देखकर रोग की खोज कर लेता है उस प्रकार आत्मा को नहीं खोजा जा सकता क्योंकि वह नेत्रों का विषय नहीं है। मन से भीतर खोजने पर भी कल्पित देशकाल वस्तु से मिला हुआ कल्पितरूप ही मन की कल्पना में आयेगा।

वास्तव में आत्मा की खोज त्वम् - पदार्थ के शोधन के रूप में की जाती है। ‘अहम् अस्मि’ अर्थात् ‘मैं हूँ’ इस रूप में हम अपने आपको जानते ही हैं क्योंकि अपना आपा तो आत्मा है। अनात्मा के तादात्म्य से वह अशुद्ध सा हो गया है।

उस अनात्मा को जिसको इदम् (यह) रूप से जाना जाता है आत्मा से पृथक् करके देखना है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि यह सब अनात्मा हैं। द्रष्टा और दृश्य के विवेक से सरलतापूर्वक आत्मतत्त्व का शोधन हो जाता है रूप दृश्य है, नेत्र द्रष्टा है। नेत्र दृश्य है, मन द्रष्टा है। मन दृश्य है, बुद्धि द्रष्टा है। बुद्धि दृश्य है, अपना आत्मस्वरूप द्रष्टा है। आत्मा केवल द्रष्टा है दृश्य नहीं और द्रष्टा भी उसको दृश्य की अपेक्षा से ही कहा जाता है। वस्तुतः वह दृशि स्वरूप है अर्थात् ज्ञेय रहित ज्ञान (ज्ञप्ति) है।

यही आत्मा सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप और देशकाल, वस्तु का द्रष्टा होने के कारण देशकाल, वस्तु के परिच्छेद से शून्य अनन्त है। ब्रह्मा से अभिन्न होने के कारण समस्त जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है। इसप्रकार यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि ब्रह्म और आत्मा अभिन्न है, देश-काल वस्तु रूप जगत् की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं। वह केवल ब्रह्म ही है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है - 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' अर्थात् सब कुछ वासुदेव ही हैं। ऐसी धारणा वाला महात्मा दुर्लभ है। वासुदेव दो शब्दों से मिलकर बना है - वासु (जिसमें सबकुछ बसा है) सर्वाधिष्ठान है और देव अर्थात् स्वप्रकाश है। इसका अर्थ हुआ स्वयंप्रकाश ब्रह्म वही सब कुछ है। इससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो परमप्रेमास्पद परमानन्द स्वरूप आत्मा से अभिन्न रूप से परब्रह्म परमात्मा को जान लेता है वह कृतकृत्य हो जाता है। उसकी सारी दौड़ - धूप मिट जाती है। वह शोकमुक्त हो जाता है। वह बुद्धिमान् पुरुष भौतिक सुखों की मृगतृष्णा को छोड़कर अपने अन्तःकरण को सत्कर्म, सद्धर्म का भगवत्पाद पङ्कजसमर्पणबुद्धि से पालन करते हुए शुद्ध करके भगवान् के सगुण साकार श्रीविग्रह, उनके पवित्र नामों, उनकी लीला, कथा और धाम के रूप में अभिव्यक्त सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा का भजन करता है, वह भगवत्कृपा से शीघ्र ही उपर्युक्त मार्ग से अपनी ब्रह्मावलोकधिषण को सार्थक करके धन्य हो जाता है।

आवश्यकता है लक्ष्य की प्राप्ति को सदा दृष्टि में रखते हुए, विघ्नों से बचते हुए निरन्तर साधन में निरत रहने की।

शान्ति, सौख्य की जननी है

यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने सुखरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए शान्ति की खोज करता है। उसकी यह गवेषणा जीवन के अथ से लेकर इति तक चलती रहती है किन्तु कदाचित् ही किसी को उसकी अनुभूति हो पाती है। सभी प्राणी पूर्वजन्म के संस्कारों को साथ लेकर ही जन्म लेते हैं। प्रारम्भ में संस्कार अनुद्बुद्ध दशा में रहते हैं पर उद्बोधक सामग्री के उपस्थित होने पर वे विविध वासनाओं का निर्माण करते हैं। प्राणी का देह, देश, काल, परिस्थिति, सम्पर्क और प्रारब्ध भोग ही संस्कारों को जाग्रत करने वाली सामग्री है। इन्हीं संस्कारों से प्रेरित होकर वह किसी प्राणी, पदार्थ, अवस्था या परिस्थिति में सुख वृद्धि करके उसी में अपनी वासना दृढ़ कर लेता है। जिसकी वासना दृढ़ हो जाती है वही जीवन का लक्ष्य बन जाता है। फिर तो वह इसी के आस-पास घूमता रहता है।

इस प्रकार के लक्ष्य की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। बहुतों को लम्बी प्रतीक्षा और प्रयत्नों के पश्चात् तथा अनेकों को सहज ही उसकी प्राप्ति होती है। अभीप्सित प्राणी, पदार्थ, अवस्था या परिस्थिति की प्राप्ति के पूर्व उसके प्रति धारणा तो वही रहती है कि इनकी प्राप्ति के साथ ही शान्ति की भी उपलब्धि होगी और उसकी खोज पूर्ण हो जाएगी किन्तु जब अन्वेषक उस अवस्था पर पहुँचता है तब अपनी कल्पना को सर्वथा विपरीत तथा स्वयं को पहले से भी अधिक अशान्त पाता है। उसकी खोज या दौड़ पुनः प्रारम्भ होती है पर इसीप्रकार की कल्पना और इसके सजातीय लक्ष्य की वासना को ही आगे करके सारा संसार मृग-तृष्णा के पीछे प्रबल वेग से दौड़ रहा है। कौरवों की सभा में दुःशासन द्वारा अपमानित होने पर फैले हुए केशों को दिखलाकर द्रौपदी ने कहा था कि अब मैं इस भवन में तभी आऊँगी जब कौरवों की स्त्रियों के केश भी वैधव्य के कारण इसी प्रकार विकीर्ण होंगे और वे भी मेरे ही समान घरों से निकलकर गंगा स्नान के लिए जाएँगी।

कौरव नारियों की यह अवस्था या परिस्थिति द्रौपदी का लक्ष्य बन गई । द्रौपदी इसे भूली नहीं । पाण्डवों की ओर से दूत बनकर दुर्योधन की सभा में जाते समय वासुदेव को उन्हीं केशों का स्मरण कराया था । पार्थसारथी कृष्ण का कृष्णा के प्रति अनुग्रह था । कौरवों को अपने अत्याचार का फल भोगना पड़ा । अभिमानी दुर्योधन सैन्य-क्षय हो जाने पर रणक्षेत्र से पैदल गदा लेकर भागा, व्यास सरोवर में छिपा और अन्त में भीम द्वारा गदायुद्ध में मारा गया । कौरव कुल-बन्धुओं की वही दशा हो गई । द्रौपदी का लक्ष्य तो पूर्ण हो गया पर उसे क्या मिला ? इसी बीच उसके पाँच पुत्र मार डाले गये । उसके पति पाण्डव भी तब तक वृद्ध हो गए । मन को दूसरी चिन्ताओं ने पुनः घेर लिया । महाभारत की यह कथा हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाती है कि जिस प्रकार द्वेष के द्वारा निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति का भी पर्यवसान अशान्ति में होता है उसी प्रकार राग से निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति का भी पर्यवसान अशान्ति में ही होता है ।

आज मानव जाति की मानसिक स्थिति चिन्ताजनक हो गई है । हमारे विचार और निश्चय आवेगमय हैं । एक ओर हमारी उद्दाम वासनाओं और दूसरी ओर जीवन की कठिनाईयों ने हमें उद्विग्न बना दिया है । बाह्य परिस्थितियों से हम अत्यधिक प्रभावित हो गए हैं । सबसे अधिक चिन्ता का विषय तो यह है कि हम भारतीयों के अन्तःकरण में जिन उपनिषद् और गीता की शिक्षाओं ने परम्परागत संस्कार के रूप में स्थान ग्रहण कर लिया था और दैवी सम्पद् के सद्गुणों को हम बहुत कुछ अंशों में आत्मसात् कर चुके थे, उनको अपनी प्रगति का रोड़ा समझकर हम छोड़ते जा रहे हैं ।

हमारी समझ में यह बात नहीं आ रही है कि भौतिक उन्नति के चरम शिखर पर अधिरूढ़ होकर भी इन सदिच्छाओं और सद्गुणों के बिना मनुष्य सुख-शान्ति कैसे प्राप्त कर सकेगा ? भौतिक उन्नति की दौड़ में आध्यात्मिक गुणों को खो बैठना बुद्धिमानी नहीं । इस दुरवस्था का कारण है जीवन के शाश्वत लक्ष्य के निर्धारण का अभाव या अनास्था । आज नैतिक शिक्षा की अनिवार्यता का अनुभव अधिकांश विचारक कर रहे हैं किन्तु इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य उनकी दृष्टि में कतिपय सामाजिक अव्यवस्थाओं के निराकरण तक ही सीमित है । किन्तु जब तक हमारी शिक्षा का सम्बन्ध हमारे आध्यात्मिक अभ्युत्थान से नहीं जुड़ेगा तब

क वह हमारे हृदय के गम्भीरतम स्थल को स्पर्श भी नहीं कर सकेगा । हम से आत्मसात् करके सहज संस्कार का रूप नहीं दे सकेंगे । वस्तुतः धार्मिक-माध्यात्मिक शिक्षाओं की लौकिक सप्रयोजनकता का सिद्धान्त मूलतः गलत है । समें उपदेष्टा के किसी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध आती है । अतएव सद्गुणों को साधना का अंग बनाकर शाश्वत साध्य की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील होकर ही हम अपनी रक्षा कर सकते हैं । इसी के द्वारा आनुषंगिक रूप से हमारी वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं का भी समाधान किया जा सकता है ।

भगवत्प्राप्ति के लिए अन्तःकरणकी शुद्धि अनिवार्य

भगवत्प्राप्ति के साधनों में अन्तःकरण की शुद्धि का स्थान प्रमुख है। यह नियम है कि प्राणी के हृदय में शुभेच्छा का जागरण चित्तशोधन से ही होता है। यज्ञ, दान और तप चित्तशुद्धि द्वारा ही तत्त्वजिज्ञासा के उदय में सहायक होते हैं। भगवत्पादपद्मानुरक्ति और निष्ठा का भी आधार यही है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी को सिद्धि बतलाया है -

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः ।

सिद्धिं प्राप्तो तथा ब्रह्म यथाप्नोति निबोध मे ।

चित्त के अपरिपाक के कारण भगवत्प्राप्ति के निकट पहुँचने पर भी विवश होकर मनुष्य को लौटना पड़ता है। देवर्षि नारद ने व्यास जी को अपने पूर्वजन्म का इतिहास सुनाते समय उस अवस्था के साधनक्रम का भी वर्णन किया है। वे कहते हैं - 'जब मैंने सर्पदंश से माता की मृत्यु का समाचार सुना तो मुझे शोक नहीं हुआ। इस घटना को मैंने भक्तों का अनुग्रह समझा और घर से निकल कर उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। स्फीत-जनपद, खेट-खर्वट, वाटी-उद्यान आदि पार करते हुए एक गहन वन में पहुँचा। उस निर्मनुज अरण्य में एक स्वच्छ जल से परिपूरित सरोवर के निकट वृक्ष की छाया में बैठकर संन्यासियों के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से भगवान् के चरण कमलों का ध्यान करने लगा। भाव-निर्जित चित्त से ध्यान करते-करते धीरे-धीरे मेरे हृदय में भगवान् का प्रादुर्भाव हो गया। आनन्द के समुद्र में लीन होने के कारण मुझे शरीर और संसार का भान ही न रहा। किन्तु जब भगवान् मेरे हृदय से एकाएक तिरोहित हो गए तो मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया। पुनः उस मूर्ति को हृदय में लाने का असफल प्रयत्न करने लगा।' उसी समय आकाशवाणी ने मुझसे कहा - 'ऋषे ! खेद मत कीजिए, इस जन्म में आप मुझे नहीं देख सकेंगे। अपरिपक्व हृदय वाले कुयोगियों को मेरा दर्शन दुर्लभ है। अभी आपको जो दर्शन दिया गया था उसका उद्देश्य आपके चित्त को आलम्बन

देकर अपनी ओर अभिमुख करना था।' देवर्षि नारद के इस जीवन वृत्त से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। उद्देश्य की सिद्धि चित्त की शुद्धि का प्रथम सोपान है। आजकल शान्ति, समाधि, योग, नैतिकता आदि की चर्चा तो होती है पर इन सबका उद्देश्य प्रायः लौकिक ही रहता है। सदाशयता की तो बात ही नहीं होती। लक्ष्य के सम्बन्ध में सुलझे हुए विचारों का अन्तःकरण में स्थान बना लेना पूर्व-पुण्यों के परिपाक किंवा भगवत्कृपा से ही सम्भव होता है। उच्चकोटि के कर्म भी भावों की अपवित्रता के कारण निम्नकोटि के बन जाते हैं। एक श्लोक है -

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।

प्रसङ्गवित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहितानि कल्कः ॥

अर्थात् तप, अध्ययन, वेदविहित कर्म कल्क अर्थात् पाप तो क्यों होंगे। बलात् धन का अपहरण भी कल्क नहीं है किन्तु भावोपहत हो जाने पर यह भी कल्क बन जाते हैं।

दूषित उद्देश्य के कारण हिरण्यकशिपु और रावण का तप तथा मेघनाद का यज्ञ भी दूषित हो गया। श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ-दान-तप-बुद्धि-धृति-सुख-ज्ञान-कर्म तथा कर्ता आदि के सात्त्विक-राजस और तामस भेद भावों के आधार पर ही किए गए हैं।

ध्यान-पूजन-नामसंकीर्तन-सत्संग-साधुसेवा-परोपकार आदि में जितना अधिक समय लगाया जाय उतना ही अधिक समझा जाता है किन्तु यदि इसके पीछे प्रदर्शन की भावना या कोई लौकिक स्वार्थ हो तो इनके परिमाण तथा समय या शक्ति के व्यय का महत्व चला जाता है। शुद्ध भाव से अनुष्ठित होने पर इसका स्वल्पांश भी बहुत बड़ा हो जाता है। वस्तुतः महत्व परिमाण का नहीं गुण का होता है। इसलिए किसी भी सत्कर्म की परीक्षा करते समय हमें यह नहीं देखना है कि वह अल्प है या अधिक। देखना यह है कि उसका कर्ता कर्म का अधिकारी है या नहीं? और अनुष्ठान किस बुद्धि से किया जा रहा है। गीता के अनुसार चित्त का संशोधन मानसिक तप है -

मनसः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

अर्थात् मन को सदा निर्मल रखना, स्वभाव में सौम्यता, मौन, आत्मनिग्रह और भावसंशुद्धि मानस तप कहलाते हैं। सत्पुरुषों में भावसंशुद्धि की स्वाभाविकता का वर्णन करने वाली मानस की चौपाई है -

कृषी निवारहि चतुर किसाना । जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ॥

आत्मशोधन के लिए आत्म-निरीक्षण आवश्यक है। आत्म-निरीक्षण करते समय समस्त मनोवृत्तियों के सात्त्विक, राजस और तामस तीन विभाग करके (यह निश्चित करके कि किस प्रकार की वृत्ति सात्त्विक होती है किस प्रकार की राजस या तामस) देखना चाहिये कि इस समय अन्तःकरण में किस गुण का वेग है। फिर यह प्रयत्न करना चाहिये कि राजसिक, तामसिक भावों से बुद्धि प्रभावित न होने पावे। बिना इसके अपने दुर्गुण समझना कठिन होता है। जब हमारी बुद्धि दुर्गुणों को दुर्गुण समझकर उनका पक्षपात करना छोड़ देती है तब दुर्गुणों का बल क्षीण हो जाता है और वे क्रमशः नष्ट होने लगते हैं। किन्तु यह सब तटस्थता पूर्वक होना चाहिये अन्यथा गुणों से सम्बन्ध जुड़ने की सम्भावना रहती है।

अपने दुर्गुण और दूसरों के सद्गुण देखने से भी अन्तःकरण के दोषों का अपनयन और गुणों का आधान होता है। क्योंकि यह नियम है कि जिन सद्गुणों को हम अपने में देखते हैं वे चले जाते हैं। और वे ही हमारे द्वारा दूसरों में देखे जाने पर हमारे भीतर आ जाते हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष दुर्गुण अपने देखते हैं और सद्गुण दूसरों के। किन्तु उच्च कोटि का साधक तो गुण-दोष की दृष्टि को ही दोष समझ कर दोनों से ऊपर उठ जाता है। भक्तजन स्वयं के दोषों का अनुसंधान करते हुए अचिन्त्य-अनन्त कल्याण-गुणगणनिलय भगवान् का ही निरन्तर स्मरण करते हैं। यह सभी चित्त-शुद्धि के उपाय हैं।

कामना ही चित्त की अशुद्धि और सर्वत्र विरक्ति ही चित्त की शुद्धि है। इस कसौटी पर चित्त को कसते रहना आत्मनिरीक्षण है। शुद्ध-चित्त से किया गया थोड़ा भजन भी बहुत हो जाता है। कहा है -

तन थिर मन थिर वचन थिर सुरत निरत थिर होय ।

कह कबीर वह पलक ही कलप बराबर होय ॥

साधारण मनुष्य संख्या और समय पर विश्वास रखते हैं किन्तु भगवान् की दृष्टि जाती है साधक की तीव्र अभीप्सा और भाव पर। कामनाओं की निवृत्ति हो

जाने पर ही भगवत्प्राप्ति साध्य और कामनाओं की निवृत्ति साधन है । किन्तु कुछ और आगे बढ़कर देखने वाले तो यह कहते हैं कि कामनाओं की निवृत्ति और भगवत्प्राप्ति दोनों अरुणोदय और अन्धकार की निवृत्ति के समान युगपत् ही होती हैं ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

यह इस विषय का निदर्शन है । श्लोक का अर्थ है - निराहार प्राणी के विषय तो छूट जाते हैं पर उसमें उसका राग नहीं छूटता । परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर स्थितप्रज्ञ का राग भी छूट जाता है । भगवत्प्राप्ति के पूर्व रागादि का केवल अभिभव होता है सर्वथा नाश नहीं । इनकी निःशेष-निवृत्ति तो भगवत्तत्त्व-साक्षात्कार से ही होती है । इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि भगवत्तत्त्व-साक्षात्कार साधन और कामनाओं पर रागादि दोषों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही साध्य है ।

चित्त की क्रीडास्थली शब्दादि विषयों में राग ही अबोध का चिह्न है । जिस वृक्ष के कोटर में अग्नि हो उसमें हरियाली भला कैसे रह सकती है ? सुख का आधार शान्ति, शान्ति का आधार निर्वासनिकता और निर्वासनिकता का भी आधार भगवत्प्राप्ति है । आजकल बहुत से ऐसे पन्थ बन रहे हैं जो सहज में ही भगवद्दर्शन और समाधि लगवाने की बात करते हैं । भावुकों को वहाँ कुछ दिख सकता है पर यदि उससे वासनायें दूर नहीं हुईं तो उसका कोई मूल्य नहीं है । जो कुछ दिखाया जाता है वह प्रपञ्च ही है । भगवत्प्राप्ति तो उससे विलक्षण है । अतः श्रेयस्काम पुरुषों को बद्धपरिकर होकर भगवान् का आश्रय लेकर चित्त के ही निराकरण में अपनी समस्त शक्ति लगानी चाहिए । किन्तु सफलता तभी मिल सकती है जब हमारे आचार व्यवहारों में पवित्रता रहे । मनुष्य अपने कर्मों से जितना प्रभावित होता है उतना और किसी से नहीं होता । क्रम है - क्रिया-शुद्धि से भाव-शुद्धि और भाव-शुद्धि से विचार-शुद्धि । सम्यग्विचार से तत्त्वज्ञान और उससे मोक्ष ।

अन्तःकरण के संशोधन का कार्य एकाएक चमत्कार से नहीं होता । जैसे किसी नदी के प्रवाह को मोड़ने के लिये विशेषज्ञ कोसों दूर ऊपर से ही उसको बांधना प्रारम्भ करते हैं तब उनको अपने कार्य में सफलता मिलती है उसी प्रकार

चित्त को शुद्ध बनाकर भगवान् में लगाने के लिये सम्पूर्ण जीवन का काया पलट अपेक्षित है । हमारा आहार, सङ्ग, स्नेहास्पद, साहित्य, अभिरुचि आदि सभी में परिष्कार की आवश्यकता है ।

‘मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः’ के सिद्धान्त का स्मरण रखते हुए ही हमें साधना के क्षेत्र में अग्रसर होना चाहिये । यह स्मरण रखना चाहिये कि सबसे निरपेक्ष-मननशील-शान्त-निर्वैर और समदर्शी पुरुष ही भगवदनुग्रहभाजन होता है ।

संक्षिप्त-परिचय

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज

भारत की पवित्र तपोभूमि में वसुन्धरा ने समय-समय पर महान् तेजस्वी पुरुषों को जन्म दिया है। ऐसे ही अवतारी पुरुषों से हमारा भारत, सनातन वैदिक धर्म उत्तुंग हिमालय की तरह स्थिर व स्थित है। धार्मिक अनुष्ठानों एवं अध्यात्मज्ञान के तत्त्वों का पोषक यह भारत संसार के समक्ष इतरदेशों की अपेक्षा अपना मस्तक ऊँचा किये हुए खड़ा है। ऐसे अध्यात्मराज्य के राजा महापुरुषों का आदर्श स्वीकार कर हमें अपने जीवन को उन्नत बनाना चाहिए।

पुस्तक पढ़ने से जिसका ज्ञान नहीं होता, वह अलभ्य ज्ञान संत महापुरुषों की सेवा से सहज ही प्राप्त हो जाता है; क्योंकि संतों का ज्ञान ही आचरण है। भगवान् आदि शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित चार पीठों में से दो पीठों (द्वारका एवं ज्योतिष्पीठ) को सुशोभित करने वाले स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज जैसी दिव्य-विभूति का संक्षिप्त परिचय अनधिकारी चेष्टा है, तथापि सद्गुरुदेव भगवान् के चरण-कमलों में अपनी श्रद्धा-भक्ति, प्रेम-पूर्ण पुष्पाञ्जलि प्रदान करने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज करोड़ों सनातन हिन्दु-धर्मावलम्बियों के प्रेरणापुञ्ज और उनकी आस्था के ज्योति स्तम्भ हैं; लेकिन इससे भी परे वे एक उदार मानवतावादी सन्त हैं। परमवीतराग, निःस्पृह और राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत एक परमहंस साधु, जिनके मन में दलितों-शोषितों के प्रति असीम करुणा है। उनके विषय में सम्पूर्णता के दावे के साथ कुछ भी लिख पाना किसी के लिए भी असम्भव है। इसलिए क्योंकि पूज्यश्रीचरण एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व के धनी हैं। आप जरा उनके जीवन पर, उनके कार्यों पर एक नजर तो डालिये, कहीं भी किसी तरह के अभाव का अनुभव, आपको नहीं होगा। अब इसे भला किसी तरह आप अभिव्यक्ति दे सकेंगे? पूर्णता को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। हाँ, असम्पूर्ण से उसकी ओर संकेत अवश्य किया जा सकता है। वैसे ही जैसे कोई अपने दोनों हाथ फैलाकर महाकाश के महत्त्व को अभिव्यक्त करे।

महिम्न स्तोत्र के रचयिता ने भगवान् शङ्कर की महिमा को इन शब्दों से अभिव्यक्त किया है कि यदि सारी पृथ्वी ही एक कागज हो, समुद्र स्याही हो, कल्पवृक्ष की शाखायें लेखनी हों और स्वयं सरस्वती ही सारा समय लिखती रहें तो भी उस पूर्णता को अभिव्यक्त नहीं कर सकेंगी। इतिहास साक्षी है कि वे ही भगवान् शङ्कर आदिशङ्कराचार्य के रूप में आज से लगभग २५१३ वर्ष पूर्व अवतरित हुए और उन्होंने अपने छोटे से जीवन में बड़े-बड़े कार्यों से इस देश को सम्पूर्ण बनाकर अपनी सम्पूर्णता की ओर संकेत किया। जो स्वयं पूर्ण है वही अपूर्ण को पूर्ण कर सकता है।

उन्हीं भगवान् आदिशङ्कराचार्य के द्वारा प्रवर्तित परम्परा की एक नहीं दो-दो कड़ियों को पूर्णता प्रदान कर रहे हैं पूज्यश्रीचरण। ज्योतिष्पीठ और द्वारका-शारदापीठ के अधिपति के रूप में। आज समय वह नहीं है, परिस्थितियाँ भी वह नहीं हैं, फिर भी पूज्यश्रीचरणों ने जो कुछ किया वह उनके महिमामय सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त है। दूसरा कोई यदि उसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करेगा तो वह निदर्शन मात्र होगा। यहाँ वही करने का प्रयास किया जा रहा है।

पूज्य महाराजश्री का जन्म संवत् १९८० के भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की तृतीया (तदनुसार २ सितम्बर, १९२४) के शुभ दिन भारत के हृदयस्थल माने जाने वाले मध्यप्रदेश के सिवनी जिले के दिघौरी गाँव में सनातन हिन्दू परम्परा के कुलीन ब्राह्मण परिवार में पिताश्री धनपति उपाध्याय एवं माता गिरिजा देवी के यहाँ हुआ। माता-पिता ने विद्वानों के आग्रह पर इनका नाम पोथीराम रखा। पोथी अर्थात् शास्त्र, मानो यह शास्त्रावतार हों। ऐसे संस्कारिक परिवार में पूज्यश्री के संस्कारों को जागृत होते देर न लगी और मात्र नव वर्ष की कोमल वय में आपने गृहत्याग कर धर्म-यात्राएँ प्रारम्भ कर दीं। भारत के प्रत्येक प्रसिद्ध तीर्थों, स्थानों और संतों के दर्शन करते हुए आप काशी पहुँचे। वहाँ आपने ब्रह्मलीन स्वामी करपात्री जी महाराज एवं स्वामी महेश्वरानन्द जी जैसे विद्वानों से वेद-वेदांग, शास्त्र-पुराणेतिहास सहित स्मृति एवं न्याय ग्रन्थों का विधिवत् अनुशीलन किया।

यह वह काल था जब भारत को अंग्रेजों से मुक्त करवाने की लड़ाई चल रही थी। महाराजश्री भी इस पक्ष के थे, इसलिये जब १९४२ में 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का घोष मुखरित हुआ तो महाराजश्री भी स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े और मात्र १९ वर्ष की अवस्था में 'क्रान्तिकारी साधु' के रूप में प्रसिद्ध हुए। पूज्यश्रीचरणों को इसी सिलसिले में वाराणसी और मध्यप्रदेश के जेलों में क्रमशः ९ और ६ महीने की सजाएं भोगनी पड़ी। महापुरुषों की संकल्प शक्ति से १९४७ में देश स्वतन्त्र हुआ। अब पूज्यश्री में

तत्त्वज्ञान की उत्कण्ठा जागी ।

भारतीय इतिहास में एकता के प्रतीक सन्त श्रीमदादिशङ्कराचार्य द्वारा स्थापित अद्वैत मत को सर्वश्रेष्ठ जानकर, आज के विखण्डित समाज में पुनः शङ्कराचार्य के विचारों के प्रसार को आवश्यक जान और तत्त्वचिन्तन के अपने संकल्प की पूर्ति हेतु १९५० में ज्योतिष्पीठ के ब्रह्मलीन शङ्कराचार्य स्वामी श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज से विधिवत् दण्ड संन्यास की दीक्षा लेकर 'स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती' नाम से प्रसिद्ध हुए ।

जिस भारत की स्वतन्त्रता के लिए आपने संग्राम किया था, उसी भारत को आजादी के बाद भी अखण्ड, शान्त और सुखी न देखकर एवं भारत के नागरिकों को दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से मुक्ति दिलाने हेतु स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा स्थापित 'रामराज्य परिषद्' पार्टी के अध्यक्ष पद से सम्पूर्ण भारत में रामराज्य लाने का प्रयत्न किया और हिन्दुओं को उनके राजनैतिक अस्तित्व का बोध कराया ।

ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज के ब्रह्मलीन हो जाने पर सन् १९७३ में द्वारकापीठ एवं पुरी के शङ्कराचार्य तथा स्वामी करपात्री जी महाराज सहित देश के तमाम संतों, विद्वानों द्वारा आप ज्योतिष्पीठ पर अभिषिक्त हुए और ज्योतिष्पीठाधीश्वर शङ्कराचार्य के रूप में हिन्दूधर्म को अमूल्य संरक्षण देने लगे ।

आपका संकल्प है - 'विश्व का कल्याण' । इसी शुभ भावना को मूर्तरूप देने के लिए आपने बिहार प्रान्त के सिंहभूम जिले में 'विश्वकल्याण आश्रम' की स्थापना की । जहाँ जंगल में रहने वाले आदिवासियों को भोजन, औषधि एवं रोजगार देकर उनके जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास किया । सम्प्रति दो करोड़ की लागत से एक विशाल एवं आधुनिक अस्पताल वहाँ निर्मित हो चुका है, जिससे क्षेत्र के तमाम गरीब आदिवासी लाभान्वित हो रहे हैं ।

पूज्य महाराजश्री ने समस्त भारत की आध्यात्मिक उन्नति को ध्यान में रखकर 'आध्यात्मिक उत्थान मण्डल' नामक संस्था स्थापित की । जिसका मुख्यालय भारत के मध्यभाग में मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर जिले में रखा । जहाँ पूज्य महाराजश्री ने ही राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी भगवती का विशाल मन्दिर बनाया है । सम्प्रति सारे देश में आध्यात्मिक उत्थान मण्डल की १२०० से अधिक शाखाएँ लोगों में आध्यात्मिक चेतना के जागरण एवं ज्ञान तथा भक्ति के प्रचार के लिये समर्पित है ।

द्वारका-शारदापीठ के जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्री अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ जी महाराज के ब्रह्मलीन होने पर उनके इच्छापत्र के अनुसार २७ मई, १९८२ को आप

द्वारकापीठ की गद्दी पर अभिषिक्त हुए और आदिशङ्कराचार्य द्वारा स्थापित चार पीठों की परम्परा में एक साथ दो पीठों पर विराजने वाले शङ्कराचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए ।

सन् १९८५ से १९८८ तक गुजरात में तीन वर्ष तक अकाल पड़ा, जिससे गुजरात का पशुधन चारे के अभाव में समाप्तप्राय हो जाने की स्थिति में आ गया, तब पूज्य महाराजश्री ने ५ मालगाड़ियों से लगभग एक करोड़ का चारा देश के अन्य भागों से गुजरात भिजवाया ।

रामजन्मभूमि के प्रश्न पर पूज्यश्री ने हिन्दुओं की अस्मिता एवं धार्मिक अधिकारों को केन्द्र बनाकर 'रामजन्मभूमि पुनरुद्धार समिति' के तत्त्वावधान में एक आन्दोलन खड़ा किया । इसी प्रश्न पर पूज्य महाराजश्री को गिरफ्तार होना पड़ा । चित्रकूट, झोतेश्वर और फतेहपुर के विराट् साधु महात्मा सम्मेलनों के द्वारा आपने राममन्दिर निर्माण के विचार को सन्त समाज का व्यापक समर्थन व ठोस आधार प्रदान किया । अन्ततः शृङ्गेरी में चतुष्पीठ सम्मेलन के द्वारा आपने इस चिन्तन को संकल्प के रूप में गठित कर सनातन धर्म के व्यापक समर्थन की आधार भूमि खड़ी कर दी । महाराजश्री का प्रारम्भ से ही मानना है कि रामजन्मभूमि के मुद्दे को आस्था से हटाकर राजनीतिक मुद्दा न बनाया जाय । इसलिये आपने चारों शङ्कराचार्यों सहित ऐसे सन्तों को लेकर श्रीरामजन्मभूमि रामालय न्यास का गठन किया जो राजनीति से दूर हटकर राममन्दिर निर्माण हेतु तत्पर हैं । पूज्यश्री आज भी रामजन्मभूमि, कृष्णजन्मभूमि और काशी विश्वनाथ के उद्धार हेतु सतत प्रयत्नशील हैं ।

एतदतिरिक्त देश भर में महाराजश्री द्वारा अनेकों संस्कृत विद्यालय, बाल विद्यालय, आयुर्वेद औषधालय, अनुसंधानशाला, आश्रम, आदिवासी शाला, गौशाला और अन्नक्षेत्र जैसी प्रवृत्तियाँ संपादित हो रहीं हैं तथा आप स्वयं भी अनवरत भ्रमण करते हुए संस्थाओं का सम्यक् संचालन व धर्मप्रचार कर रहे हैं । ऐसे पुनीत कार्यों से युक्त शङ्करावतार पूज्यगुरुजी के चरणों में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. शिवजी उपाध्याय द्वारा विरचित इन पंक्तियों के द्वारा कोटिशः वन्दन -

मध्याञ्चलीय नरसिंहपुरस्थ राजराजेश्वरीभगवतीसुविशालधाम ।
निर्माप्य किञ्च शतशः परिकल्प्य संस्थाःस्वामिन् ! मनुष्यकुलमङ्गलमातनोषि ॥
अद्याभिनन्द्य करपात्रयतीश्वरस्याशीर्वागुदित्वरतदात्ममहात्मवर्यम् ।
पीठद्वयाधिपतिविश्वगुरुस्वरूपानन्दश्रियं यतिवरं प्रमुदं ब्रजामः ॥